

# चिन्तन-सृजन

## त्रैमासिक

वर्ष 14 अंक 1

जुलाई-सितम्बर 2016

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपए
अन्दर कवर	15,000.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए 'केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त'

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा-निवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : [asthabharati1@gmail.com](mailto:asthabharati1@gmail.com)

वेब साइट : [asthabharati.org](http://asthabharati.org)

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

## विषय-क्रम

---

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. ऋग्वैदिक “तिस्त्रो देव्यः” की सरस्वती एवं भारती की मूर्ति रूप हैं, हितोफोनिससिन देवी भारती-ब्रितानिया प्रो. राजीव रंजन उपाध्याय	7 3
2. भारतीय धर्म-सम्प्रदायों की मूलभूत समानताएँ शत्रुघ्न प्रसाद	28
3. गाँधी, जिन्ना और नेहरू शंकर शरण	36
4. ‘बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु’ : वर्तमान में अतीत की घुसपैठ! पांडेय शशिभूषण ‘शीतांशु’	43
5. भारत और कज़ाकिस्तान में पर्यावरण की स्थिति तथा सुरक्षा डॉ. येलेना इ. रुदेको	49
6. बैंकों में धोखाधड़ी एवं रोकथाम के उपाय (कौटिल्य अर्थशास्त्र के विशेष सन्दर्भ में) डॉ. अनीता जैन एवं डॉ. सुधीर जैन	60
7. समर्थ और समृद्ध भारत हेतु मूल्य आधारित शासन और प्रशासन की अवधारणा मनोज कुमार अम्बष्ट	68
8. आधुनिक हिन्दी कहानी में बाजारवादी चेतना प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, डी. लिट्	72
चिन्तन-सृजन, वर्ष-14, अंक-1	3

9.	समीक्षा पश्चिमी सार्वभौमिकता और भारतीयता की आत्मगवेषणा प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा	79
10.	पुस्तक समीक्षा 'गाँधी-विमर्श' : एक सार्थक हस्तक्षेप प्रो. नरेश कुमार अम्बष्ट	88
11.	हिन्दी नाटक : परम्परा एवं प्रवृत्ति डॉ. हितेन्द्र कुमार मिश्र	96
12.	आधुनिक साहित्य समीक्षा का पाश्चात्य मानदंड : अस्तित्ववाद डॉ. नानासाहेब गोरे	111
13.	रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा जिहु कृष्णमूर्ति के वैश्विक मानवीय चेतना में वसुधैव कुटुम्बकम् की अवधारणा प्रभात कुमार	118
	पाठकीय प्रतिक्रिया	127
	प्राप्ति-स्वीकार	128



## सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

### लक्ष्मण-रेखा को लाँघती भारतीय राजनीति

आज भारत में बहुत कुछ ऐसा गलत हो रहा है, जिसका कारक भारतीय राजनीति रही है। हमारी गलत राजनीति के चलते सबसे बड़ी विकृति शिक्षा एवं संस्कृति के क्षेत्र में आयी हैं; सद्बिचार कमजोर पड़ा है। उँचे स्तर पर पहुँचे लोगों की, विशेषतः राजनीति के क्षेत्र के लोगों की, लपफाजी बढ़ी है। यहाँ मैं दो राजनीतिकों के वक्तव्यों की चर्चा करना चाहूँगा।

अरविन्द केजरीवाल दिल्ली के मुख्यमंत्री हैं। वे अन्ना हजारे द्वारा संचालित सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन (social-political movement) की उपज हैं, जैसे कि लालू प्रसाद यादव जैसे लोग जय प्रकाश आन्दोलन के। अरविन्द केजरीवाल ने कुछ समय पहले प्रधानमंत्री को मनोरोगी, कभी कायर, और फिर कभी मास्टरमाइण्ड कहा था। उनका एक अन्य वक्तव्य अभी अभी आया है, जिसमें केजरीवाल ने प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी को “हत्या करा दे सकनेवाला” तक कहा है। देश के किसी प्रधानमंत्री के लिए ऐसी धूर्ततापूर्ण गलत-बयानी किसी मुख्यमंत्री द्वारा पहली बार हुई है, जो निहायत गलत है। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि जेपी एवं अन्ना हजारे, दोनों ही द्वारा संचालित जनान्दोलन उद्देश्य की अस्पष्टता एवं गलत उद्देश्य से जुड़े अनुयायियों के चलते, विफल रहे।

ऐसे ही गलत बयान गुलाम नवी आजाद के भी आये हैं। आजाद केन्द्रीय मंत्री तथा जम्मू कश्मीर के मुख्यमंत्री रहे हैं; वर्तमान में वे राज्य सभा में कांग्रेस दल के एवं विपक्ष के नेता हैं। उनका एक वक्तव्य पहले आया था, जिसमें उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की तुलना ईराक (मध्य एशिया) के इस्लामिक स्टेट से की थी। जैसा कि इस देश के अनेक लोगों ने माना, आजाद का वह वक्तव्य निहायत बचकाना, मूर्खतापूर्ण, गैर-जिम्मेदाराना एवं देश को बदनाम कराने वाला था। आजाद का वैसा ही बयान फिर आया है। वस्तुतः आमीर खान के रामनाथ गोयनका पुरस्कार के अवसर पर दिए गये बयान के संदर्भ में उनका नाम लिए बिना रक्षामंत्री मनोहर पर्रिकर ने कहा था कि देश के विरुद्ध बोलनेवाले किसी व्यक्ति को पाठ पढ़ाया जाना चाहिए। इस पर आजाद का राज्यसभा में, जैसा कि समाचार पत्रों में आया है, बयान था: “क्या मैं उनसे (पर्रिकर से) पूछ सकता हूँ कि वे किस प्रकार का पाठ हमें पढ़ाना चाहते हैं, ताकि सदन जाने। समस्त राष्ट्र को बताया जाना चाहिए कि किस तरह की कार्रवाई और पाठ वे इस देश के अल्पसंख्यकों को पढ़ाने जा रहे हैं। फिर आजाद ने पर्रिकर के वक्तव्य को भारत की क्षेत्रीय अखण्डता से जोड़ते हुए पूछा कि “क्या देश की

क्षेत्रीय अखण्डता की रक्षा का यही तरीका है? आप अपने लोगों के बीच भावनात्मक अलगाव पैदा कर रहे हैं।” प्रश्न उठता है कि एक व्यक्ति के विषय में दिया गया वक्तव्य सभी अल्प-संख्यकों पर कैसे लागू हो सकता है? और अमीर खान की गलत बयानी पर बहस क्यों नहीं? फिर यदि अमीर खान अपने विचार की स्वतंत्रता रख सकते हैं तो मनोहर पर्रिकर क्यों नहीं? इस संदर्भ में तृणमूल कांग्रेस के नेता, देरेक ओ’त्रिएन का वक्तव्य भी लगभग उसी तरह का गैर जिम्मेदाराना था।

पर्रिकर के बयान पर आजाद की प्रक्रिया से दो बातें खुलकर आयी। एक, कि एक व्यक्ति की बातों का प्रतिकार समस्त समुदाय का प्रतिकार बन जाता है, यदि वह व्यक्ति मुसलमान, या अल्पसंख्यक वर्ग का है। दो, कि उस वर्ग के व्यक्ति विशेष के विरोध से देश की क्षेत्रीय अखण्डता के लिए खतरा उपस्थित हो जाता है, ऐसी बात करने का प्रचलन बढ़ रहा है, जिसे खतरनाक माना जाना चाहिए। स्पष्टतः हम इस देश के व्यक्ति-विशेष को ऐसी स्वतंत्रता नहीं दे सकते। फिर हर बात पर राष्ट्र के क्षेत्रीय अखण्डता पर खतरे की बात करने वालों को ऐसा करने से रोका जाना चाहिए चाहे वह व्यक्ति किसी भी उच्च पद पर बैठा हो।

उल्लिखित दो उदाहरण भारतीय राजनीति में आये स्खलन को पूर्ण रूपेण नहीं दर्शाते। वस्तुतः हमारी राजनीति में आया स्खलन बहु-आयामी हो गया है। आज हमारी राजनीति हमें भीतर से तोड़ रही है; समाज के विभिन्न वर्गों के बीच विद्वेष एवं अविश्वास का विष फैला रही है। हमारी राजनीति में व्यक्ति विशेष की केन्द्रीयता; राजनीति से जुड़े परिवारों की केन्द्रीयता एवं दलगत स्वार्थों की केन्द्रीयता ने राष्ट्र-हित एवं समाज-हित को हासिये पर ठेल दिया है। उनका निहित स्वार्थ चुनी हुई सरकारों के काम-काज में सबल रूप से बाधक बनता जा रहा है। जटिल प्रश्न है कि हम समाज-हित एवं राष्ट्र-हित को अपनी राजनीति में केन्द्रीयता कैसे दिलाएँ?

— ब्रज बिहारी कुमार

## ऋग्वैदिक “तिस्त्रो देव्यः” की सरस्वती एवं भारती की मूर्ति रूप हैं, हितोफोनिससिन देवी भारती-ब्रितानिया

प्रो. राजीव रंजन उपाध्याय\*

ऋग्वैदिक चर्चित पुण्य सलिला सरिता सरस्वती यद्यपि महाभारत के विनाशकारी युद्ध (ई. पू. 3128) के घटित होने के बहुत पूर्व, भूगर्भीय परिवर्तनों के फलस्वरूप अदृश्य हो चुकी थी।<sup>1</sup> पर भारतीय जनमानस में इसका प्रवाह अक्षुण्ण रहा। इसी के कारण पुनः भारतीय इतिहासकारों, पुरातत्त्ववेत्ताओं, भूगर्भशास्त्रियों और वैज्ञानिकों के संयुक्त प्रयासों के फलस्वरूप इस सरिता के द्वारा सिंचित सभ्यता के उद्भव और अदृश्य होने के कारणों पर पर्याप्त मात्रा में सूचनाएँ एकत्र हो सकीं।<sup>2,3</sup>

सरिता सरस्वती की चर्चा ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के अतिरिक्त सभी अन्य 9 मण्डलों में विद्यमान है। यह भी एक तथ्य है कि इस दस मण्डलों में ऋग्वेद का षष्ठ मण्डल सर्वाधिक प्राचीन है और भाषा एवं व्याकरण की दृष्टि में अन्तिम दशम मण्डल अपेक्षाकृत नवीन है। एक अनुमान के अनुसार इन दसों मण्डलों के मन्त्रों का दर्शन ऋषियों को दो सहस्र वर्षों के अन्तराल में हुआ होगा।<sup>4</sup>

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सूक्त 10, 11 एवं 12 में वाक्-देवी, वैभवदात्री एवं सुमति देने वाली देवी के रूप में सरस्वती स्मृत हैं।<sup>5</sup> इसी मण्डल के सूक्त-89 में भग, मित्र, अदिति, दक्ष, मरुदगण, अर्यमा, वरुण, सोम, अश्विनी कुमार देवगणों के साथ-सुख सौभाग्यदायिनी देवी सरस्वती का स्मरण किया गया है।<sup>5(1)</sup>

ऋषि गृत्समद (आङ्गिरस शौनहोत्र पश्चद) अग्नि की स्तुति करते हुए उन्हें वृत्रहन्ता एवं सरस्वती नामों से सम्बोधित करते हैं।<sup>5(2)</sup> उनकी कल्पना में सरस्वती देवी अग्निरूपा हैं।

\* पूर्व प्रोफेसर केंसर शोध, तबरीज विश्वविद्यालय, तबरीज ईरान, सम्पादक : विज्ञान कथा, आवास :  
'विज्ञान' परिसर कोठी काके बाबू देवकाली मार्ग, फैजाबाद-224001; (उ. प्र.), दूरभाष :  
05278-240176, सचलभाष : 09838382420

इसी प्रथम मण्डल के सूक्त-13 में इला एवं महादेवी के साथ देवि सरस्वती स्मृत हैं। ये देवियाँ सुखकारी हैं।<sup>5(3)</sup> उसी मण्डल के सूक्त-142, 9 में पवित्र यज्ञ कर्मों के निर्वाहक के रूप में भारती, सरस्वती एवं इला को उपस्थित होने की प्रार्थना की गयी है।<sup>5(4)</sup> तथा एक अन्य स्थल पर देवी सरस्वती से जगत के पोषण हेतु सुखदायक कल्याणकारी विभूतियों को देने की कामना की गयी है।<sup>5(5)</sup> इसी प्रकार ऋषि भारती इला और सरस्वती से विभूतियों-ऐश्वर्य को प्राप्त करने की प्रेरणा देने की कामना करता है।<sup>5(6)</sup>

ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के सूक्त-2 के एक मन्त्र में सरस्वती को अग्नि कहा गया है।<sup>5(7)</sup> तथा अनेक श्रेष्ठ गुणों से युक्त देवी इला, भारती एवं सरस्वती से यज्ञ स्थल पर आकर अपनी धारणा शक्ति से यज्ञ को संरक्षण देने की प्रार्थना की गयी है।<sup>5(8)</sup>

इसी मण्डल के एक अन्य मन्त्र में माँ सरस्वती से शत्रुओं पर विजय और उनसे रक्षा करने की प्रार्थना की गयी है।<sup>5(9)</sup> ततथा गुंग, सिनीवाली, राका और इन्हीं के साथ सरस्वती देवियों से संरक्षण की कामना ऋषि गृत्समद करते हैं।<sup>5(10)</sup>

पुनः इसी मण्डल के सूक्त-42 के मन्त्रों में ऋषि गृत्समद नदियों में श्रेष्ठ सरस्वती देवी से ज्ञान, उत्तम सन्तति तथा अन्न एवं जल प्रदाता देवी से अपने स्रोतों को स्वीकार करने की प्रार्थना करते हैं।<sup>5(11)</sup>

ऋषि विश्वामित्र गाथिन-भरण करने वाली देवी भारती, मनुष्यों के साथ इला देवी तथा सारस्वत वाक् शक्ति के साथ सरस्वती देवी को इस दिव्य अग्नि के पास आने की प्रार्थना करते हैं।<sup>5(12)</sup>

इसी मण्डल के एक अन्य सूक्त में दृषद्वती, आन्यया और सरस्वती नदी के तटों पर रहने वाले मनुष्यों के गृहों में अग्निदेव को धन से युक्त होकर दीप्तिमान होने की प्रार्थना की गयी है।<sup>5(13)</sup>

एक अन्य मन्त्र में ऋषि मरुदगण एवं देवी सरस्वती से उत्तम वीर पुत्रों से युक्त ऐश्वर्य प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं।<sup>5(14)</sup>

ऋषि इला, सरस्वती, मही, इन तीनों देवियों से यज्ञ में उपस्थित होने की प्रार्थना करते हैं।<sup>5(15)</sup> इसी मण्डल के सूक्त-42 के एक मन्त्र में सरस्वती आदि नदीरूपी देवियों से धन प्रदान करने की प्रार्थना की गयी है।<sup>5(16)</sup>

इसी प्रकार सरस्वती, जो पर्वतों और ध्रुलोक से आती हैं, घृत के समान कान्ति वाली हैं, से यज्ञ में हवियों को स्वीकार करने की प्रार्थना ऋषि करते हैं।<sup>5(17)</sup> इसी प्रकार की अनेक देवों के साथ पूषा, भग और सरस्वती देवी से हवियाँ ग्रहण करने की प्रार्थना इसी मण्डल के एक अन्य सूक्त में की गयी है।<sup>5(18)</sup>

ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल के सूक्त 49 में सरस्वती को सुन्दर अन्न देने वाली तथा वीरों का पालन करने वाली कहा गया है।<sup>5(19)</sup> इसी मण्डल के एक अन्य मन्त्र में

अन्य देवों के साथ सरस्वती से दिव्य अन्न और सुख देने की तथा जल से उमड़ती सरस्वती से रक्षा करने हेतु प्रार्थना की गयी है।<sup>5(20)</sup>

षष्ठ मण्डल के सूक्त-61 के मंत्रों में ऋषि भारद्वाज बार्हस्पत्य सरस्वती के द्वारा पणियों के नाश तथा उनके दान, उनके भू-प्रदान करने की, विविध प्रकार के अन्न देने की, धन देने की, शत्रुओं से रक्षा करने की, सप्तधाराओं युक्त, तीव्र गति से प्रवहमान सरस्वती देवी की स्तुति करते हैं।<sup>5(22)</sup>

मण्डल-सप्तम् सूक्त-2 के मन्त्र में<sup>5(23)</sup> भारती अपने गणों के साथ, देवी इला देवता और मनुष्यों सहित तथा सारस्वतों के साथ सरस्वती देवी को पधारने और कुशासन पर विराजमान होने की प्रार्थना की गयी है तथा इसी मण्डल के एक अन्य मन्त्र में<sup>5(24)</sup> अग्निदेव से प्राणों की रक्षा तथा सरस्वती से रत्नों के दान देने के लिए अनुरोध किया गया है।

सरस्वती को सद्बुद्धि<sup>5(25)</sup> तथा सिन्धुमाता तथा सप्तम् सरस्वती को अपने जल से परिपूर्ण अन्न और दुग्धादि प्रदाता कहा गया है।<sup>5(26)</sup>

ऋषि वसिष्ठ मैत्रावरुण अग्नि आदि देवताओं सहित देवी सरस्वती को आहूत करते हैं<sup>5(27)</sup> तथा प्रषत-चित्तीदार घोड़ों वाले मरुदगण जो बलवान एवं पराक्रमी मनुष्यों की सुरक्षा करते हैं ऐसे मनुष्यों को अग्निदेव एवं देवी सरस्वती सत्कर्म करने की प्रेरणा देती हैं—चर्चा एक मन्त्र में की गयी है।<sup>5(28)</sup>

अन्यत्र, मन्त्र में यही ऋषि सरस्वती सरिता की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि सरस्वती श्रेष्ठ ऐश्वर्यों को सचेष्ट करती हुई नृप नहुष को तथा प्रजा को दुग्ध-घृत देती रहती है।<sup>5(29)</sup>

एक दूसरे मन्त्र में सरस्वती को सौभाग्य प्रदायनी एवं श्रेष्ठ धन वाली कहा गया है।<sup>5(29)</sup>

स्तोता वसिष्ठ ऋषि उत्तम सौभाग्यदायिनी देवी सरस्वती से धन की कामना करते हैं।<sup>5(29)</sup>

सूक्त-96 में ऋषि वसिष्ठ, अपने श्रेष्ठ स्त्रोतों से सरस्वती की वन्दना करते हुए उनसे मनुष्यों को अन्न और धन, स्त्री, पुत्र प्रदान करने वाली कहकर सम्बोधित करते हैं।<sup>5(30)</sup>

अष्टम् मण्डल के सूक्त-21 में सरस्वती को सम्पत्ति प्रदायनी कहा गया है<sup>5(31)</sup> तथा एक-दूसरे मन्त्र में उनसे संरक्षित होने की कामना की गयी है।<sup>5(32)</sup> इसी मण्डल में पुनः विष्णु, सरस्वती, सप्तसिन्धवः और पूषा से यज्ञ को संरक्षण देने की कामना की गयी है।<sup>5(33)</sup>

ऋग्वेद नवम् मण्डल के सूक्त 5, 8 में ऋषि देवल काश्यप-भाषा की अधिष्ठात्री-भारती, विद्या की अधिष्ठात्री-सरस्वती एवं वाक् की अधिष्ठात्री देवी इला, को यज्ञ में पधारने का आवाहन करते हैं।<sup>5(34)</sup> एक अन्य मन्त्र में वेदों के ज्ञान को पुष्ट करने

हेतु सरस्वती दुग्ध, घृत, मधु-शहद आदि उपलब्ध कराती हैं।<sup>5(35)</sup> तथा अनेक वैदिक देवों के साथ विद्यादायिनी सरस्वती भी एक अन्य स्थल पर स्मृत की गयी हैं।<sup>5(36)</sup>

दशम् मण्डल में देवी सरस्वती की बहुविधि वन्दना की गई है तथा उनके मातृवत् जल के अन्य गुणों के सहित उस पवित्र जल के प्रयोग से ऊर्ध्वनामी होने की कामना की गयी है।<sup>5(37)</sup> तथा धन-सम्पदा की भी कामना की गयी है।<sup>5(38)</sup> महती, पूजनीय तरंगशालिनी सरस्वती, सरयू और सिन्धु देवियों से दुग्ध, मधु, अन्नों को प्रदान करने की कामना व्यक्त की गयी है।<sup>5(39)</sup> सरस्वती अन्य देवों के साथ अन्तरिक्ष को समृद्ध करती हैं, वे स्त्रोतों को सुनें, यह इच्छा ऋषि व्यक्त करते हैं।<sup>5(40)</sup> एक-दूसरे मन्त्र में, सरस्वती सहित अन्य देवों से संरक्षण देने की कामना व्यक्त की गयी है।<sup>5(41)</sup>

ऋषि गंगादि नदी समूह से स-सरस्वती स्त्रोतों को सुनने की प्रार्थना करते हैं।<sup>5(42)</sup>

देवी भारती, इला एवं सरस्वती को ऋषि यज्ञ में आने तथा अपने आसनों पर विराजमान होने की कामना करते हैं।<sup>5(43)</sup> इसी मण्डल के सूक्त-131 में सोमपान के उपरान्त इन्द्र के सरस्वती के अनुकूल होने का संकेत है।<sup>5(44)</sup>

अन्य सूक्तों में ऐश्वर्य प्रदान करने के हेतु देव मण्डल के साथ सरस्वती भी आमन्त्रित की गयी हैं।<sup>5(45)</sup> तथा देवी सिनीवाली स-सरस्वती गर्भधारण में सहायक हों, यह कामना ऋषि करते हैं।<sup>5(46)</sup>

ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों की प्राचीनता की चर्चा करते हुए श्रीकान्त तलागिरी ने लिखा है कि ऋग्वेद का प्राचीनतम मण्डल षष्ठ है, उसके उपरान्त तृतीय, सप्तम, और मण्डल प्रथम के प्रारम्भिक मन्त्र, मण्डल चतुर्थ, द्वितीय और प्रथम मण्डल के मध्य तथा प्रारम्भिक मन्त्र, मण्डल पंचम्, अष्टम्, नवम् और प्रथम मण्डल के अन्य मन्त्र तथा अन्तिम दशम् मण्डल है।<sup>6</sup>

इस दृष्टि से अवलोकन करने पर इला, सरस्वती और भारती के क्रमों में ही अन्तर नहीं दिखता वरन् उनके द्वारा प्रदत्त विविध समृद्धिदायक पदार्थों के विवरणों में भी परिवर्तन विद्यमान हैं, जो उस समय के ऋषियों और मानवों की आवश्यकता थे।

इतिहासविद् सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी जनों एवं नृपों के नामों से परिचित हैं। इक्ष्वाकु जन सूर्यवंशी थे तथा चन्द्रवंशी ऐलों में पंच जन यदु, तुर्वसु, द्रुह्य, अनु एवं पुरु स्मृत हैं।

ऋग्वेद में इक्ष्वाकु शब्द मात्र एक बार प्रयुक्त हुआ है—और वह भी सूर्य के सन्दर्भ में<sup>6</sup> परन्तु ऐलवंशी पंचजनों की कई मन्त्रों में चर्चा है।<sup>7</sup>

इन पंचजनों में मात्र पुरु-भरत जन ही को ऋग्वेद में आर्य और अन्य जनों को दास शब्द से सम्बोधित किया गया है।<sup>8</sup>

ऋग्वेद में यदु और तुर्वशु जनों की चर्चा अनेक मन्त्रों में विद्यमान है।<sup>4</sup> यह भी ऋग्वेद के मन्त्रों के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि यह बहुत दूर वास करते थे

(ऋ.1, 36, 18), नदी के दूरस्थ छोर पर स्थित थे (ऋ. 5, 31, 8) तथा दूरस्थ समुद्र को पार करते थे, (ऋ. 6, 20, 12)। कुछ मन्त्रों में इनके देवों द्वारा उत्प्लवित सरिता को पार करने की चर्चा है (ऋ. 1, 174, 9, 4, 30, 17)। इनकी चर्चा मन्त्रों में युग्मित रूप में हुई है, जबकि ये जन अलग-अलग थे। यह तथ्य संकेत देता है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषिजनों की स्मृति वास्तविक तथ्य से हट गयी थी, धूमिल पड़ गयी थी, क्योंकि ऋग्वैदिक भारत में इन जनों का वास स्थल वैदिक आर्यजनों पुरु-भरत जनों के वास स्थल से अधिक दूर था।

परन्तु कुछ मन्त्रों में इन जनों द्वारा वैदिक आर्यों को सहायता भी प्रदान की गयी थी, का वर्णन है। इस सन्दर्भ में पुरुकुस्त एवं उनके पुत्र त्रसदस्यु की चर्चा इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है (ऋ. 4, 42, 1-10)। इन मन्त्रों के द्रष्टा त्रसदस्युपौरकुस्थ और देवता त्रसदस्यु ही हैं।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सूक्त 36, मन्त्र 18 में यह दूर से आकर कण्व की उसके शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध में सहायता करते हैं। इनकी ऋग्वेद के अन्य मन्त्रों में भी चर्चा है।<sup>9</sup>

ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में इन जनों का वैमनस्य-वैदिक आर्यों-पुरु जनों से स्पष्ट झलकता है।<sup>10</sup>

महाभारत में यदु, तुर्वसु, पुरु, अनु और द्रुह्य की चर्चा नृप ययाति के वृद्धावस्था अपनी जरावस्था पुत्रों को देने और उनकी युवावस्था लेने के सन्दर्भ में आती है।<sup>11</sup>

भारतीय पुराणों में यदु और तुर्वसु के वंश वृक्ष के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि तुर्वसु की सम्भवतः कोई प्रभावशाली शाखा नहीं थी। परन्तु यदु जन प्राचीनकाल से ही पराक्रमी और समर्थ थे। पुराणों में अनेक यदु नृपों का, पुरु नृप भरत से पूर्व में विवरण उपलब्ध है। वैदिक नृप मान्धाता का समकालीन यदु नृप शशबिन्दु था। दूसरा चर्चित पुराकालीन नृप यदु कार्तवीर्य अर्जुन था। संक्षेप में यदुजन गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र और आधुनिक मध्य प्रदेश में व्याप्त थे।<sup>11(1)</sup>

ऋग्वेद के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरु-भरत जन ही वैदिक आर्यजन थे। भरतजनों की चर्चा अनेक मन्त्रों में विद्यमान है।<sup>12</sup>

इन मन्त्रों में अग्नि और वरुण देव भी भरत कहे गये हैं और अन्य मन्त्रों में भरत-अग्नि की चर्चा है। भरत-अग्नि के विवरण पुराकालीन ग्रीस में भी विद्यमान है। (देखें सन्दर्भ 23) इन्हीं भरतों की चर्चा उन्हें इन मन्त्रों के नायक के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

समस्त ऋग्वैदिक मन्त्रों में कहीं भी भरतों के विषय में उनके विरुद्ध कोई वर्णन नहीं मिलता है।

पुरुजनों की चर्चा प्रमुखतः सन्दर्भित मन्त्रों में विद्यमान है।<sup>13</sup> इन मन्त्रों में वैदिक देवता पुरुजनों के देव के रूप में वर्णित हैं। अग्नि पुरुजनों का पुरोहित, आनन्द

देने वाला, जो उनके पापों का नाशकर्ता, उनका रक्षक और उनके शत्रुओं का नाशक है।

मित्र एवं वरुण उन पुरुजनों के युद्ध में बलशाली अश्वों के समान सहायक हों, यह प्रार्थना भी मन्त्रों में विद्यमान है।

पुरु जन इन्द्र की आहुति अपने हितों की रक्षा हेतु, देते हैं तथा पुरुजनों द्वारा प्रदत्त सोम का पान कर इन्द्र वृत्त का वध करते हैं। युद्ध में उनकी सहायता करते हैं, शत्रुओं के दुर्गों का नाश करते हैं, पुरुजनों की सहायता हेतु।

दशम मण्डल के 48, 5 मन्त्र में इन्द्र पुरुजनों को मात्र उनको आहुति देने के लिए प्रेरित करते हैं, क्योंकि ऐसा करने पर वह पुरुजनों को मित्रता, सुरक्षा और अपनी कृपा देते रहेंगे।

यह सर्वमान्य है कि वैदिक जनों की क्रीड़ा भूमि सरिता सरस्वती का क्षेत्र था।<sup>14</sup> सरस्वती को इला और भारती के साथ उनके मन्त्रों में—आप्री-सूक्तों में विभिन्न ऋषियों द्वारा स्मरण किया गया है। यह आप्री सूक्तकार, ऋग्वेद के मन्त्रों के द्रष्टा दस ऋषि परिवार हैं।

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के सूक्त 96 का दूसरा मन्त्र स्पष्ट रूप से सरिता सरस्वती को पुरुजनों की सरिता घोषित करता है। यह पुरुजनों के वास-क्षेत्र में प्रवाहित होती थी, क्योंकि उक्त मन्त्र में स्पष्ट रूप से उच्चारित है कि हे सौन्दर्यमयी, आपके दुकूलों पर पुरुजन वास करते हैं। पुरु(जनों) को ऋग्वेद में पुरुष के रूप में सम्बोधित किया गया है। इसी कारण ग्रिफिथ ने पुरु का अनुवाद पुरुष के रूप में निम्न मन्त्रों में किया है।

मण्डल-1, 129, 5, 131, 4, मण्डल-4, 21, 10, मण्डल-5, 171, 1, मण्डल-10, 4, 1

ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के सूक्त-64, मन्त्र 10 में स्पष्ट रूप से कहा गया है “पुरावे मानवे जने”। यहाँ पर पुरु मानव मात्र के रूप में वर्णित है। इस प्रकार ऋग्वेद में पुरु का पुरुष और मनुष्य के रूप में सर्वप्रथम वर्णित तथ्य महत्वपूर्ण है। यही तथ्य ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त 90 में विद्यमान है जिसके देवता पुरुष हैं। इसी कारण यह सूक्त, पुरुष-सूक्त भी कहा जाता है।

पुराकाल में हरियाणा स्थित कुरुक्षेत्र को ब्रह्मावर्त भी कहा गया है और यह क्षेत्र परम पवित्र माना गया है। परन्तु ऋग्वेद में ब्रह्मावर्त और कुरुक्षेत्र की चर्चा नहीं है। पर ऋग्वेद में यह क्षेत्र “वार आ पृथिव्याः” (पृथ्वी का श्रेष्ठ स्थल) और “नाभा पृथिव्याः” (पृथ्वी की नाभि) नामों से सम्बोधित है तथा अन्य दो स्थलों पर इलायास्पद और मानुष का भी उल्लेख है—



नि त्वा दधे वर आ पृथिव्या इलायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम ।  
वृषद्वत्यां मानुष आपयांया सरस्वत्या रैवदग्ने दिदीहि॥

ऋ. 3, 22, 4

इस मन्त्र में ऋषि देववात इलास्पद, जो पृथ्वी का श्रेष्ठ स्थल है, पर पवित्र अग्नि को पवित्र दिवस पर स्थापित करते हैं और कहते हैं कि “हे अग्नि! आप सरिता वृषद्वती, मानुषी जो आपया पर स्थित है और सरस्वती पर प्रज्वलित रहें।”

महाभारत के वन पर्व में वर्णित तीर्थ यात्रा पर्व के अन्तर्गत मानुष तीर्थ का निम्न श्लोक में वर्णन है—

ततो गच्छेत राजेन्द्र मानुषं लोकं विशुद्धतमम् ।  
यत्र कृष्ण मृगा राजन् व्याधेन शरपीडितः॥

तदुपरान्त महाभारतकार कहते हैं<sup>15</sup>—

मानुषस्य तु पूर्वोण क्रोशमात्रे महीपते ।  
आपगा नाम विख्याता नदी सिद्धनिषेविता॥

इलास्पद तीर्थ की चर्चा इन शब्दों में की गयी है<sup>15</sup>—

रुद्रकोट्यां तथा कूपे, हृदेषु च महीपते ।  
इलास्पदं च तत्रैव तीर्थं भरतसप्तमम्॥

कुरुक्षेत्र की सीमापार में स्थित अनेक तीर्थों की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है “जो सरस्वती के दक्षिण और वृषद्वती के उत्तर कुरुक्षेत्र में वास करते हैं, वे मानो स्वर्गलोक में ही रहते हैं।”<sup>15</sup>

दक्षिणेन सरस्वत्या वृषद्वत्युत्तरेण च ।  
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे॥

महाभारत वर्णित यह तीर्थ अपने किंचित परिवर्तित नाम रूप में अभी भी विद्यमान हैं। इस पर प्रकाश डालते हुए श्री मनोहर लाल भार्गव ने अपनी पुस्तक में लिखा है<sup>16</sup>—तीर्थ मानुष अब मानस नाम से जाना जाता है। यह तीर्थ कैथल के उत्तर पश्चिम में साढ़े तीन मील की दूरी पर स्थित है और सरका स्थित इलास्पद अथवा इलायास्पद कैथल से दक्षिण पश्चिम की ओर 2 मील की दूरी पर है। सरका को अब शेरगढ़ कहा जाता है।

सरिता सरस्वती और वृषद्वती के क्षेत्र में मानुष और इलास्पद नामक तीर्थ आपया नदी के दक्षिण और वाम तटों पर साढ़े पाँच मील की दूरी पर स्थित हैं।

देवी इला, जो इलास्पद नामक स्थल में पूजित रही हैं, ही वह देवी है जिनकी स्तुति अग्नि-सूक्तों में ऋग्वेद के द्रष्टा दस ऋषि परिवारों द्वारा सरस्वती के साथ की गयी है।

आग्नी-सूक्तों में स्मृत तीसरी पूज्य भारती देवी, जो सूक्तकारों द्वारा मही भी कही गयी, के नाम से कोपर अथवा कोइर नामक तीर्थ कुरुक्षेत्र के मध्य में स्थित है। यह स्थल थानेश्वर से 12 मील दक्षिण-पश्चिम और कैथल से 22 मील पूर्व में स्थित है।<sup>16</sup>

इस प्रकार ऋग्वैदिक इन तीनों महादेवियों के नामों से सम्बन्धित स्थल कुरुक्षेत्र में ही स्थित थे, जिसकी चर्चा, ऋ, 2, 3, 7 में “अधि मानुषु त्रिष” तथा “नाभा पृथिव्या” के द्वारा व्यक्त की गयी है।<sup>17</sup> कुरुक्षेत्र का यह स्थल ही नाभा पृथिव्या है। यहाँ यह इंगित करना समीचीन होगा कि इन तीनों देवियों, “सरस्वती, इला एवं भारती”, का स्मरण इस मन्त्र में, आग्नी-सूक्तों को छोड़कर, मात्र एक बार ऋग्वेद में किया गया है।<sup>18</sup>

इस प्रकार ऋग्वैदिक पुरु-भरत जनों की क्रीड़ा स्थली हरियाणा और उसके समीपवर्ती क्षेत्र थे तथा महाभारतकार ने यक्ष तरन्तु, अरन्तुक तथा रामहृद क्षेत्र के मध्य भाग को कुरुक्षेत्र एवं समन्तपंचक क्षेत्र कहा है, जो ब्रह्मा की उत्तरवेदि है।<sup>19</sup>

ऋग्वेद और पुराणों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनु-द्रुह्य जन भारतीय उद्भव के हैं तथा इनके कालान्तर में विसंक्रमण ने मध्य एशिया के और यूरोपीय जनों को जन्म दिया।

भारत क्षेत्र से सर्वप्रथम दुह्यजनों का विसंक्रमण हुआ था। इसकी चर्चा वायु पुराण (99, 11-12), ब्रह्माण्ड पुराण (3, 94, 11-12), मत्स्य पुराण (48, 9), विष्णु पुराण (4, 17, 5) में मिलती है तथा भागवत में इन शब्दों में यह चर्चा निम्नवत है<sup>19</sup>—

*घृतस्य दुर्मनास्मात् प्रचेता प्राचेतसं शतम् ।  
म्लेच्छाधिपतयोऽभवन्दीचीं दिशमाश्रिताः॥*

श्रीमद्भागवत 9, 23, 15-16

इसी सन्दर्भ को विस्तार देते हुए पार्जीटर (Pargiter) ने लिखा है “Indian tradition knows nothing of Aila or Aryan invasion of India, from Afganistan, nor of any gradual advance from thence eastwards.”<sup>20</sup> On the contrary, “Indian tradition distinctly asserts that there was an Aila out flow of Druhyus through the Northwest into the countries beyond where they found various Kingdoms.”<sup>20</sup>

इसी सन्दर्भ में भार्गव ने लिखा है कि पुराणों में वर्णित है कि प्रचेतस के वंशज उत्तर दिशा में भारत से बाहर गये और उन्होंने अपने राज्य मलेच्छ क्षेत्रों में स्थापित किये।<sup>21</sup> यह महत्वपूर्ण घटना पुराकाल में घटित हुई थी जो भारतीय सन्दर्भों में सुरक्षित रही।

द्रुह्यजन प्रारम्भ में सप्त सिन्धु क्षेत्र-आधुनिक पंजाब में निवास करते थे। उन्होंने क्रमशः अपने विस्तार का क्षेत्र पूर्व और दक्षिण दिशा में बढ़ाना प्रारम्भ किया। उनके इस विस्तारवाद के कारण ही उनका संघर्ष अनु, पुरु, यदु, तुर्वसु जनों तथा इक्ष्वाकों से प्रारम्भ हो गया।

इस प्रकार द्रुह्यजनों के विरुद्ध में उक्त वैदिकजन संघर्षरत हो गये। इसके सन्दर्भ में पुसालकर ने लिखा है—

“As result of the successful compaigns of Sasabindu. Yuvanasava, Mandhatri and Sibi the Drughus were pushed back from Rajputana and were corncred into north western protion of Punjab. Mandhatri killed their king ANGARA and the Drughu settlement in Punjab came to be known as GANDHARA after the name of one of the Angara’s successors. After a time, being over populated the Drughu crossed the borders of India and found many principalities in mleccha territories in north and probably carried the Aryans culture beyond the frontiers of India.<sup>22</sup>

द्रुह्यजनों के इस ऐतिहासिक विसंक्रण ने अफगानिस्तान से लेकर मध्य एशिया और इसी क्षेत्र में दूर तक उन्हें विस्तार करने का अवसर प्रदान किया।

वैदिकजनों का दूसरा भारतीय क्षेत्र से वाह्यगमन दशराज्ञ युद्ध, जो ऋग्वेद के प्रारम्भिक काल में घटित हुआ था, के परिणामस्वरूप हुआ। इसके फलस्वरूप अनुजन और अवशेष द्रुह्यजन भारत से बहिर्गमन करने को बाध्य हुए।

इस चर्चित युद्ध में सुदास के विरुद्ध अनु और द्रुह्य शाखा के जिन समर्थक जनों ने भाग लिया था, उनमें से निम्न 6 अनु उद्भव के ईरानी जन थे—

1. पृथु - पार्थव - पार्थियन जन - ऋ. 7, 83, 1
2. पर्शव - परशियन जन - ऋ. 7, 83, 7
3. पक्थ - पक्खतून - ऋ. 7, 18, 7
4. भलानस - बलूच - ऋ. 7, 18, 7
5. शिवास - खीवा - ऋ. 7, 18, 7
6. विषाणिन - पिशाच-दरद - ऋ. 7, 18, 7

अनुजनों की एक शाखा जो मद्रों-मद्रिजनों की थी, का वर्णन ऋग्वेद में यद्यपि नहीं है, परन्तु कालान्तर में ईरान के अन्य क्षेत्रों, अफगानिस्तान और मध्य एशिया के इतिहास में इनका विवरण उपलब्ध है।

ईरानी अनु शाखा की जनजातियों में —

- (1) शिम्यूस - सारमातियन - आवेस्ता-सैरीमास - ऋग्वेद 7, 18, 5 - सिरीमिनॉस - प्राचीन एलबानियन जन।

(2) एलिनास- ऋग्वेद - अलान, 7, 18, 7 - हेलेनेस ग्रीकजन थे<sup>23</sup>, जिनका विस्तार ईरान के पश्चिमोत्तर क्षेत्रों में था।

ये जन कालान्तर में ग्रीस से लेकर अधिकांश भूमध्य सागरीय क्षेत्रों तथा आधुनिक इटली के क्षेत्रों में व्याप्त हो गये थे। भारतीय सभ्यता के चिह्न आज भी इनके पुरा अवशेषों में सुरक्षित एवं संगृहीत हैं।<sup>24</sup>

इन जनों के अतिरिक्त भारतीय उद्भव के भृगुजन जो कालान्तर में फ्रीजियन-जन के नाम से विख्यात थे, का विस्तार-तुरुष्क क्षेत्र, अनातोलिया से लेकर अर्ब-क्षेत्र, गाजा, पलेस्ताइन तथा सुदूर क्षेत्र<sup>25</sup> मिस्र तक व्याप्त हो गया था।<sup>25(1)</sup>

अनु एवं द्रुह्यजनों की ही शाखा के थाको-फ्रीजियन जन थे, जो आधुनिक आर्मेनिया क्षेत्र में व्याप्त थे। इसी शाखा के (1) हित्तियों, (2) तोखारियन, (3) इटैलिक, (4) केल्टिक, (5) जर्मनिक, (6) वाल्टिक, (7) स्लोवानिक आदि जनों के पूर्वज रहे होंगे। यह मुख्यतः द्रुह्य उद्भव के हैं।<sup>4</sup>

अपने प्रारम्भिक प्रसर्पण-विसंक्रमण की अवस्था में अफगानिस्तान, मध्य एशिया रूसी क्षेत्रों में जिन स्थलों पर इन जनों ने सात नदियों को देखा था। उस स्थल को एक बार पुनः भारतीय सप्तसिन्धु के स्मरण हेतु इन क्षेत्रों को भी इसी नाम से सम्बोधित किया। फलस्वरूप अफगानिस्तान और रूसी क्षेत्र में सप्त-सिन्धु Semi Rechiye वर्णित है।<sup>26</sup> आज विदेशों में प्रवास कर रहे भारतीयों में अपने आराध्य के मंदिरों का निर्माण एवं स्थानों का नामकरण इसी परम्परा का परिवर्तित रूप है।

इसी प्रकार रूस के आल्टाई क्षेत्र में स्थित आरकाइम नामक स्थल पर विद्यमान वैदिक ज्योतिष के चिह्न, इसी अवधारणा की पुष्टि करते हैं।<sup>27</sup>

दशराज्ञ युद्ध के उपरान्त अनु और अवशेष द्रुह्यजन, जो सप्त-सिन्धु के भारतीय क्षेत्र से बढ़कर अफगानिस्तान और सुदूर अन्य क्षेत्रों में बढ़ गये थे, परन्तु इसके उपरान्त कुरु अनुशाखा के जन जो भारतीय सप्त-सिन्धु पंजाब क्षेत्र में रह गये थे, उनके सम्बन्ध पुरुजनों से हो जाने के फलस्वरूप वे भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्रों में रहने लगे और वे ही मद्र तथा कैकेय जनों के नाम से विख्यात हो गये।

पुराणों और वैदिक वाङ्मय में उल्लिखित उत्तर कुरु को ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार हिमवन्त के पार—“पारेण हिमवन्त” बताया गया है। अधिकांश विद्वान हिमालय को ही हिमवन्त मान लेते हैं, जो तथ्यमय प्रतीत नहीं होता। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने हिमवन्त को “हेमोदन” पर्वत माना है<sup>29</sup> तथा इसी अवधारणा का समर्थन अन्य विद्वानों ने किया है।<sup>30</sup> यह पर्वतमाला ईरानी कैस्पियन सागर के समीप है। डॉ. ठाकुर प्रसाद वर्मा मेगास्थनीज के विवरणों के अनुसार लिखते हैं कि हेमोदान पर्वत उत्तर में सीथिया को भारत से अलग करता है, इसके निवासी ‘सर्काई’ कहे जाते हैं।<sup>30</sup>

वैदिक इंडेक्स के एक अन्य उल्लेख में वसिष्ठ सात्यहव्य द्वारा इसे देवताओं का क्षेत्र कहा गया है। परन्तु मैक्डोनाल्ड और कीथ कहते हैं कि जानंतिय सातहव्य इसको जीतने के लिए इच्छुक था, अतः यह वास्तविक भूभाग रहा होगा।<sup>30</sup>

ऐतरेय ब्राह्मण में उत्तरमद्र का भी उल्लेख है। इन लोगों को भी हिमालय के पार का निवासी बताया गया है। वंश ब्राह्मण में काम्बोज औपमन्यव मद्रगार का शिष्य कहा गया है। प्रतीत होता है कि काम्बोज और मद्र एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं रहे होंगे। पाणिनि के काल में मद्र जन उशीनर के पश्चिम पंजाब में आकर बसे थे।<sup>30</sup>

यहाँ पर यह उल्लेख करना रोचक होगा कि महाभारत का युगान्तकारी महासमर (3138 ई. पू.) पुरु और कुरु नृपों के क्षेत्र कुरुक्षेत्र में घटित हुआ था। इसमें पुरु-कुरु राजाओं के वंशजों ने भाग लिया था, जिनमें बाह्लीक (उत्तरकुरु) के सोमदत्त तथा काम्बोज के सुदक्षिण भी सम्मिलित थे।<sup>31</sup>

काम्बोजराज सुदक्षिण की चर्चा महाभारत-द्रोणपर्व के द्विनवतितमोऽध्यायः के श्लोक 17 और 70 तथा काम्बोज सैनिकों की चर्चा एकनवतितमोऽध्यायः के श्लोक 39 में अंकित है। इसी भाँति बाह्लीक सैनिकों की चर्चा त्रिनवतितमोऽध्यायः के श्लोक 42, एकविंशत्याधिकशतोत्तमोऽध्यायः श्लोक 13, 14 तथा स्वयम् बाह्लीक नरेश और उनके पुत्र सोमदत्त के युद्ध को सप्तपंचाशदधिकशततमोऽध्यायः के श्लोक 10, 11 तथा द्विषष्ट्याधिकशतोत्तमोऽध्यायः के अनेक श्लोकों में सात्यकि द्वारा कुरु पुंगवम् - सोमदत्त से युद्ध और उनकी मृत्यु सम्बन्धित है, में वर्णित है।<sup>31</sup>

यहाँ यह इंगित करना रोचक होगा कि महाभारतकार ने सोमदत्त को कुरुपुंगवम्-कुरुश्रेष्ठ कहा है। तात्पर्य है कि बाह्लीक के नृप तथा जन पुरु-कुरु शखा के थे, रक्त-सम्बन्धी थे। महाभारत के दिग्विजय पर्व के सप्तविंशोऽध्याय में अर्जुन द्वारा “परम विक्रान्तो बाह्लीकान् पाकशासनिः” श्लोक 22 में बाह्लीकों को पराजित करने का वर्णन है तथा भीष्मवधपर्व के पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः के श्लोक 21 में “तुषारा यवनाश्चैव शकाश्च सह चुचपैः” तुषार के यवनों का उल्लेख पुनः बाह्लीक के सन्दर्भ में आया प्रतीत होता है। यही तुषारजन कालान्तर के तोखरी हैं।

वैसे भी महाभारत में “भारतवर्ष की नदियों, देशों तथा जनपदों के नाम और भूमि का महत्त्व” शीर्षक के अन्तर्गत, भीष्मपर्व के नवमोऽध्यायः के श्लोक 54 में “अभीसारा उलूताश्च शैवाल वाह्लिकास्तस्था” में बाह्लीक की चर्चा है।

बाह्लीक-काम्बोज की चर्चा अशोक के 13वें शिलालेख में, तथा मेहरौली के लौह स्तम्भ पर गुप्त सम्राट ‘चन्द्र’ के अंकित लेख में भी विद्यमान है।<sup>30</sup> इसी बाह्लीक-खेतान के भारतीय नृपों की चर्चा डॉ. ठाकुर प्रसार वर्मा ने अपने शोध-पत्र में विस्तार से की है<sup>30</sup> जो चर्चित उत्तर कुरु था।

मद्र जनपद की चर्चा करते हुए डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है कि “तक्षशिला के दक्षिण-पूर्व में मद्र जनपद था, जिसकी राजधानी शाकल—आधुनिक

सियालकोट थी। मद्र के दक्षिण में उशीनर और शिवि जनपद थे।”<sup>29</sup> इस दृष्टि से देखने पर तलागिरि की हितियों के क्षेत्र (तुरुष्क देश - हत्तूसा) को उत्तर मद्र कहना उचित प्रतीत होता है, क्योंकि यह भी द्रुह्य उद्भव के भारतीयजन थे।

अनु शाखा के प्राचीन ईरानी जनों की भाँति ही, हिती जनों ने भी इन्द्र की चर्चा की है, जिसका मूर्त स्वरूप सुमेरियन सीलों पर देखने को मिलता है।<sup>28</sup>

फोनीशियन जन इन्हीं द्रुह्य उद्भव के हितीजनों की शाखा थे। ये वैदिक पणियों के परिवर्तित स्वरूप थे तथा इन्होंने ही स्काटलैण्ड, इंग्लैण्ड-आयरलैण्ड में ईसा पूर्व 400 में, वैदिक सभ्यता का प्रसार किया था, जिसके अवशेष वहाँ अब भी विद्यमान हैं।<sup>28</sup>

सरस्वती को वाणी की देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है। वह विद्या एवं कलाओं की अधिष्ठात्री मानी जाती है। ऐतरेय ब्राह्मण में इनका उल्लेख वाणी की उत्प्रेरिका के रूप में किया गया है—“अथ यत्फूर्जयन वाचामिव वन्दहति तदस्य सारस्वतं रूपम्” (ऐतरेय ब्रा. 3, 4)। ऐसा माना जाता है कि सरस्वती से सम्पूर्ण वेदों की उत्पत्ति हुई है।

सरस्वती देवी जहाँ पर ऐश्वर्य प्रदायनी हैं, वहीं पर इनकी अन्न और जल प्रदाता देवी के रूप में भी उपासना की गयी है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में सरस्वती अन्न प्रदाता हैं—इसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है।

इला देवी का उल्लेख ऋग्वेद में लगभग 12 बार हुआ है। इन्हें गौ से प्राप्त सम्पत्ति—दुग्ध और घृत का प्रतिरूप माना गया है। हविष् की प्रतिरूप होने के कारण इन्हें घृत-हस्ता और घृत-पाद बताया गया है।

वैदिक देवियों के रूप में—तिस्रो देव्यः के अन्तर्गत भारती देवी का नाम प्रतिष्ठित है। देवी इला अग्नि का अनुगमन करने वाली, सरस्वती मध्यमा से सम्बद्ध तथा भारती दिव्य लोक में स्थित हैं। यह सौर्य शक्ति का प्रतीक हैं।

द्रुह्य उद्भव के हिती-पणिजनों<sup>29</sup> की आराध्या भारती ऋग्वैदिक “तिस्रो देव्यः” में से एक—भारती हैं, जो सरस्वती के साथ संयुक्त हो गयी हैं। देवी सरस्वती अग्नि स्वरूप हैं (ऋ. 2, 1, 11) तथा देवी भारती सौर्य शक्ति का प्रतीक हैं, यह दिव्य लोक में स्थित होने के कारण वाच् की दिव्य रूप हैं (ऋ. 5, 5, 8)।

यहाँ पर यह ध्यान देना आवश्यक है कि हिती जनों का वास स्थल शीत प्रधान क्षेत्र-तुरुष्क-अनातोलिया-हत्तूसा में था। इसी कारण सौर्य और अग्नि शक्तियों की, उनके जीवन-यापन में प्रधानता थी। भारती देवी भाषाजनित उच्चारण दोष के परिणाम-स्वरूप भारती बनकर, उनकी आराध्या इसी कारण बन गयीं।

देवी सरस्वती जल का प्रतिनिधित्व करती थीं, इसी कारण वे जलीय तत्त्व-सरिता और समुद्र की द्योतक भी हैं। परिणामस्वरूप समुद्र यात्रा में, धन संचय हेतु अपने पूर्वजों पणियों की भाँति ही फोनीशियन जनों ने देवी भारती को, सर पर जल कलश

के साथ चित्रित किया। (चित्र-1)। परन्तु इनका रूपान्तरण रोमन सम्राटों की ब्रिटेनिया में होने के परिणामस्वरूप यह जल कलश विहीन हो गयी। यह तथ्य रोमन सम्राट हाडरियन (Hadrian-117-137 A.D.) तथा एंटीनिन (Antonine) की मुद्राओं से स्पष्ट हो जाता है (चित्र-2)। ब्रिटेन की पुरानी पेनी पर प्रकाश स्तम्भ के साथ ब्रिटेनिया-भारती का मुद्रण हुआ है। यह प्रकाश तत्त्व, जो देवी सरस्वती और भारती में अग्नि और सौर्य शक्ति के रूप में ऋग्वेद के मन्त्रों में स्मृत है—का प्राकट्य है।

फोनीसियन जनों तथा रोमन सम्राटों की मुद्राओं पर खचित क्रास (चित्र-3) सौर्य चक्र का प्रतीक था, जो ब्रिटेन में ईसाई पन्थ के प्रवेश के साथ सेंट जार्ज का क्रास बनकर तत्कालीन मुद्राओं पर अंकित दिखाई पड़ता है। कुछ मुद्राओं में यह सौर्य चक्र ढाल का स्वरूप ग्रहण कर लेता है (चित्र-2)। इस तथ्य का निम्नवत कारण हो सकता है—

ऋग्वेद<sup>5(9)</sup> में ऋषि देवी सरस्वती से शत्रुओं पर विजय और उनसे रक्षा करने की प्रार्थना करते हैं। पुनः यही तथ्य एक अन्य मन्त्र में वर्णित है।<sup>5(22)</sup> देवी सरस्वती देवों को संरक्षण देने वाली<sup>5(41)</sup> तथा एक अन्य मन्त्र (ऋ. 2, 1, 11) में वे वृत्र-हन्ता कही गयी हैं। चित्र-2 में ढाल त्राण देने, सुरक्षा प्रदान करने तथा शक्ति सामर्थ्य की भी प्रतीक हैं।

देवी सरस्वती अन्न (ऋ. 6, 49, 7) तथा भौतिक ऐश्वर्यों की प्रदायिनी हैं, यह तथ्य ग्रीकों-रोमन मुद्राओं पर अन्न की बालियों कर्नूकोपिया (Cornucopia) के रूप में तथा प्राचीन ब्रिटिश मुद्राओं पर अन्न की शाखा के स्वरूप में मुद्रित किया गया है (चित्र-4)

ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के सूक्त 35, मन्त्र 6 में आपनपात् देव का स्मरण किया गया है। इस मन्त्र में जल-अश्व, उच्चश्रवा का जन्म और उसका अश्विनद्वय से सम्बन्ध भी प्राचीनकाल की ब्रिटिश मुद्राओं पर सौर्य अश्व के रूप में (चित्र-5) जो फोनिशियनजनों के प्रभाव का द्योतक है, देखने को मिलता है।

ऋग्वेद में 2, 35 सूक्त के देवता अपांनपात् कहे गये हैं तथा 10, 30 सूक्त में आपः देवता के साथ इनका विकल्प मिलता है। अपांनपात् मेघों में छिपे अग्नि और जलों के पुत्र के रूप में उल्लिखित हुए हैं। यह जलों से उत्पन्न होकर, जलों में प्रवर्धित होते हुए भी दीप्तिमान रहते हैं (ऋ. 2, 35, 7)।

रोमन पुराकथाओं में त्रिशूलधारी नेपच्यून की उत्पत्ति जल से, समुद्र से मानी गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि आपः-नपात् शब्द से नपात् के पृथक्कीकरण से कुछ भाषाजन्य परिवर्तनों के परिणामस्वरूप नेपच्यून शब्द बना है। यह परिवर्तन ऋग्वैदिक सरमा-पणि आख्यान के ग्रीक पुराकथाओं में स्वरूप परिवर्तन की भाँति हैं।<sup>23(11)</sup> परन्तु इस बिन्दु का अधिक विस्तार यहाँ अभीष्ट नहीं है।

ऋग्वेद के मण्डल 2, सूक्त 1, मन्त्र 11 में अग्नि को सरस्वती एवं वृत्रहन्ता कहा गया है, तथा यह शरणागतों की अभय प्रदाता हैं, इसी कारण हित्तियों की परम्परानुसार यह शिरस्त्राण और ढाल सहित चित्रित की गयी हैं (चित्र-2)। शरणागतों की सुरक्षा प्रदाता होने के कारण यह भाग्य की देवी हैं, इसी भावना में रोमन जनों की फारचूना (Fortuna) का उद्भव निहित है। यह बारती और ब्रिटानिया की भाँति ही जल से भी सम्बद्ध है। (चित्र-6) तथा ग्रीक भाग्यदेवी ताइशे (Tyche) का प्रतिरूप है।

यह फोनोशियन जनों की सभ्यता का प्रभाव है कि पुराकालीन मिस्र की जल से सम्बन्धित देवी भी बाइरथी (Bairthy) है, जो अपने सर पर जल कलश धारण किए, और एक हाथ में नुकीला दंड (Sceptre) लिए हुए, सिंहासनासीन चित्रित की गयी है। यह अपने दूसरे हाथ में सौर्य-चक्र, क्रास धारण किए हुए हैं (चित्र-7)। ऐसा माना जाता है कि यह सीरियन (हित्ती) उद्भव की देवी है<sup>29</sup>। यह भी ब्रिटैनिया का पूर्ववर्ती स्वरूप है तथा बाइरथी-बारती-भारती के उच्चारण का परिवर्तित रूप है।

फोनोशियन जनों का, मिस्र और उसके समीपवर्ती क्षेत्रों की सभ्यता के विकास तथा इसी भाँति कालान्तर में स्कॉटलैण्ड, आयरलैण्ड और ब्रिटेन के वासियों में वैदिक सभ्यता को विकसित कर उन्हें सुसंस्कृत बनाने में, अप्रतिम योगदान रहा है।

#### सन्दर्भ

1. वर्मा टी.पी. : सरस्वती : द सिविलाइजेशन एण्ड द रिवर इतिहास दर्पण, 18(2), 253-266, 2013
2. कल्याणरमण, एस. : सरस्वती, बेंगलूरु, 2000
3. डानीनो, मिशेल : द लास्ट रिवर, आन द ट्रेल ऑफ सरस्वती, पेंगुइन बुक्स, 2010
4. तलागेरी, श्रीकान्त जी : द ऋग्वेद - ए हिस्टोरिकल एनालिसिस, आदित्य प्रकाशन, एफ-14/68 माडेल टाउन, दिल्ली-110009, 2004, पृ. 78, 202, 141-148
5. ऋग्वेद संहिता : प्रकाशक : युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा-281003
1. मण्डल-1, सूक्त-3, 10-12, मण्डल-1, सूक्त-89, 3
2. मण्डल-2, सूक्त-1, 11
3. मण्डल-1, सूक्त-13, 9
4. मण्डल-1, सूक्त-142, 9
5. मण्डल-1, सूक्त-164, 49
6. मण्डल-1, सूक्त-188, 8
7. मण्डल-2, सूक्त-1, 11
8. मण्डल-2, सूक्त-3, 8
9. मण्डल-2, सूक्त-30, 8
10. मण्डल-2, सूक्त-32, 8
11. मण्डल-2, सूक्त-42, 16-18



12. मण्डल-3, सूक्त-4, 8
13. मण्डल-3, सूक्त-23, 4
14. मण्डल-3, सूक्त-54, 13
15. मण्डल-5, सूक्त-5, 8
16. मण्डल-5, सूक्त-42, 12
17. मण्डल-5, सूक्त-44, 11
18. मण्डल-5, सूक्त-46, 2
19. मण्डल-6, सूक्त-49, 7
20. मण्डल-6, सूक्त-50, 12
21. मण्डल-6, सूक्त-52, 6
22. मण्डल-6, सूक्त-61, 1-14
23. मण्डल-6, सूक्त-2, 8
24. मण्डल-7, सूक्त-9, 5
25. मण्डल-7, सूक्त-35, 11
26. मण्डल-7, सूक्त-36, 6
27. मण्डल-7, सूक्त-39, 5
28. मण्डल-7, सूक्त-40, 3
29. मण्डल-7, सूक्त-95, 1, 4, 5, 6
30. मण्डल-7, सूक्त-96, 1-6
31. मण्डल-8, सूक्त-21, 17-18
32. मण्डल-8, सूक्त-38, 10
33. मण्डल-8, सूक्त-54, 4
34. मण्डल-9, सूक्त-5, 8
35. मण्डल-9, सूक्त-67, 32
36. मण्डल-9, सूक्त-81, 4
37. मण्डल-10, सूक्त-19, 7-9-10
38. मण्डल-10, सूक्त-30, 12
39. मण्डल-10, सूक्त-64, 9
40. मण्डल-10, सूक्त-65, 1, 13
41. मण्डल-10, सूक्त-66, 5
42. मण्डल-10, सूक्त-75, 5
43. मण्डल-10, सूक्त-117, 8
44. मण्डल-10, सूक्त-131, 5
45. मण्डल-10, सूक्त-141, 5
46. मण्डल-10, सूक्त-184, 2
6. ऋग्वेद : 10, 60, 4
7. ऋग्वेद : 1, 108, 8, — यदु, तुर्वसु, द्रुह्य, अनु एवं पुरु  
: 8, 10, 5— यदु, तुर्वसु, द्रुह्य, एवं अनु  
: 6, 46, 8—द्रुह्य एवं पुरु (वृक्ष)

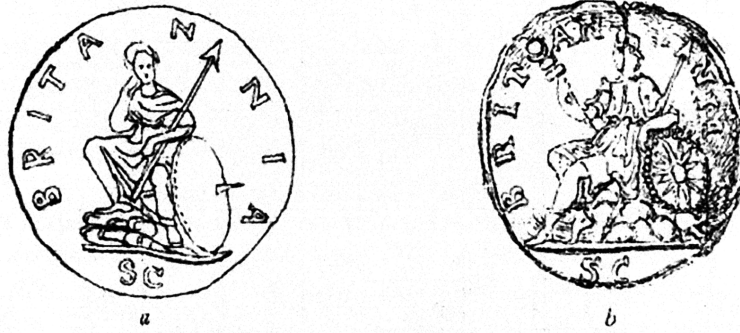
- : 8, 4, 1 —अनु एवं तुर्वसु  
 : 1, 47, 7 — तुर्वसु
8. ऋग्वेद : 1, 36, 18, 54, 6, 174, 9  
 : 4, 30, 17  
 : 5, 31, 8  
 : 6, 20, 12, 45, 1  
 : 7, 19, 8  
 : 8, 4, 7, 18, 9, 14, 45, 25  
 : 9, 61, 2  
 : 10, 49, 8, 62, 10  
 ऋग्वेद : 1, 54, 6; 8, 4, 7, 18; 9, 14; 45, 27; 10, 49, 8
10. ऋग्वेद : 6, 27, 7, 7; 18, 6; 19, 8, 9, 61, 2
11. महाभारत : गीता प्रेस गोरखपुर सं. 2016 चतुरशीतितमोऽध्याय, पृ. 260 तथा,  
 डेविड फ्राउले (1) : द ऋग्वेद एण्ड द हिस्ट्री ऑफ इंडिया, आदित्य प्रकाशन, 2/18  
 अंसारी रोड, नई दिल्ली-2, 2012, पृ. 120-122
12. ऋग्वेद : मण्डल-1, 96, 3; मण्डल-2, 7, 1; 5, 36, 2  
 : मण्डल-3, 23, 2; 33, 11-12, 53, 12, 24  
 : मण्डल-4, 25, 4  
 : मण्डल-5, 11, 1; 54, 14  
 : मण्डल-6, 16, 19; 45  
 : मण्डल-7, 8, 4; 33, 6
13. ऋग्वेद : मण्डल-1, 59, 6; 129, 5; 130, 7, 131, 4  
 : मण्डल-4, 21, 10; 38, 1; 3; 39, 2  
 : मण्डल-5, 17, 1  
 : मण्डल-6, 20, 10  
 : मण्डल-7, 5, 3; 8, 4, 18, 3, 19, 9, 96, 2  
 : मण्डल-8, 64, 10  
 : मण्डल-10, 4, 1; 48, 5
14. वर्मा, टी.पी. : सरस्वती : द सिविलाइजेशन एण्ड द रिवर, इतिहास दर्पण, 18(2),  
 253-266, 2013 तथा अन्य वर्णित सन्दर्भ ।
15. महाभारत : गीता प्रेस गोरखपुर सं. 2016, त्र्यशीतितमोऽध्यायः, 4, 65, 67, 77, पृ.  
 1181-1192
16. मनोहर लाल भार्गव : द जियोग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, द अपर इंडिया  
 पब्लिशिंग हाउस लि. लखनऊ, 1964 अध्याय 6, 81
17. दैव्या होतारा प्रथमा विदुष्टर ऋजु यक्षतः समूचा वापुष्टरा ।  
 देवान्यजन्तावृतुथा समञ्जतो नाभा पृथिव्या अधि सानुष त्रिषु॥  
 ऋ. 2, 3.7

18. सरस्वती साधयन्ती धियं न इलादेवी भारती विश्वमूर्तिः ।  
तिस्त्रो देवीः स्वधया वहिरिदमचिच्छं पान्तु शरणं निषद्य॥  
ऋ. 2.3.8
19. श्रीमद्भागवत महापुराण : गीता प्रेस गोरखपुर सं. 2008, 9, 23, 15-16
20. पार्जीटर, एफ.ई. : ऐन्शियंट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन, मोतीलाल बनारसीदास  
दिल्ली-वाराणसी-पटना, 1962, पृ. 298, 99
21. पुरुषोत्तम लाल भार्गव : इंडिया इन द वैदिक ऐज : ए हिस्ट्री ऑफ एक्सप्लोरेशन इन  
इंडिया, अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस, प्रा. लि. लखनऊ 1971 अध्याय, 5:3,; 7:55
22. आर.सी. मजूमदार : द हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ इंडियन पीपुल, भाग-1, द वैदिक  
ऐज भारतीय विद्या भवन, पब्ली. मुंबई—छठा संस्करण, 1996, पृ. 283, 262
23. उपाध्याय, राजीव रंजन : ग्रीस और पश्चिमोत्तर भारतवर्ष के स्थानवाची नामों की  
उभयनिष्ठता एवं भारतीयों का उन क्षेत्रों के विकास में अवदान, इतिहास दर्पण,  
19(1), 38-54, 2014  
(1) प्राचीन ग्रीस के एटिका-एथेन्स के कुरु एवं भरत जन तथा उमा सूना - अमेजंस,  
इतिहास दर्पण 19(2), 199-208, 2014  
(2) ऋग्वैदिक सरमा एवं पणि आख्यान का ग्रीक पुराकथाओं में रूपान्तरण, इतिहास  
दर्पण, 20(1), 11-16, 2015
24. उपाध्याय, राजीव रंजन : इटली की प्राचीन इनुस्कन सभ्यता में निहित वैदिक तथ्य  
एवं शवाधानों की भित्तियों एवं पात्रों पर उत्कीर्ण रामायण-चित्र, इतिहास दर्पण  
18(2), 215-232
25. उपाध्याय, राजीव रंजन : कुश द्वीप और मित्र का वैदिक अतीत, इतिहास दर्पण,  
18(1), 77-89, 2013  
(1) त्रिपाठी, डी.एन. : इंडियन एण्ड वेस्ट एशियन कल्चरल कांटेक्ट : इतिहास  
दर्पण, 18(1), 267-286, 2013
26. वर्मा, टी.पी. : वैदिक जनों का योरोप एवं पश्चिम एशिया में विसंक्रमण, इतिहास  
दर्पण, 14(2), 25-42, 2009, एवं History and Civilization of JAMBU DVIPA  
(in press)
27. उपाध्याय, राजीव रंजन : ऋग्वैदिक ग्रह-नक्षत्रों से सम्बद्ध कुछ तथ्य एवं मिथक,  
इतिहास दर्पण, 17(1), 4-9, 2012
28. उपाध्याय, राजीव रंजन : ब्रिटनों, स्कॉटों एवं एंग्लोसैक्सनों के पूर्वज-फोनीसियन :  
इतिहास दर्पण, 2012) 229-249, 2015
29. वासुदेव शरण अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, चौखम्भा विद्याभवन, चौक,  
वाराणसी-1, पृ. 37-89, 1969
30. ठाकुर प्रसाद वर्मा : मध्य एशिया एवं भारत : ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों  
की गाथा, इतिहास दर्पण, 15(2), 27-41, 2010 तथा सन्दर्भ 26
31. महाभारत : गीता प्रेस गोरखपुर, सं. 2016 द्रोण पर्व : द्विनवतितमोऽध्यायः श्लोक  
17, 70 तथा उल्लिखित अन्य अध्यायों का अवलोकन करें।



Coins of Phoenician "Barats" of Lycaonia, of third century A.D. disclosing their tutelary goddess "Baratl" as "Britannia".

चित्र-1



—Britannia on Early Roman Coins of Britain  
(After Alterinan)

a. Coin of Jadrian (117-137 A.D.)

b. Coin of Antonnie (138&161 A.D)

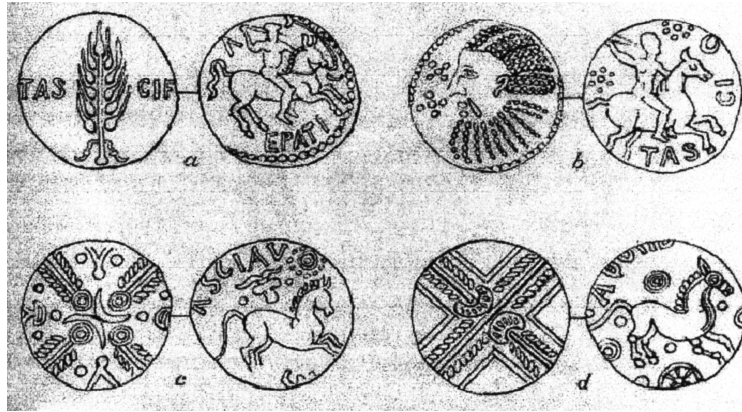
चित्र-2



—Phenician Coin of Barati or Britannia from Sidon.  
(After Hill)

Note she holds a Cross as standard and a rudder amongst the wavis.

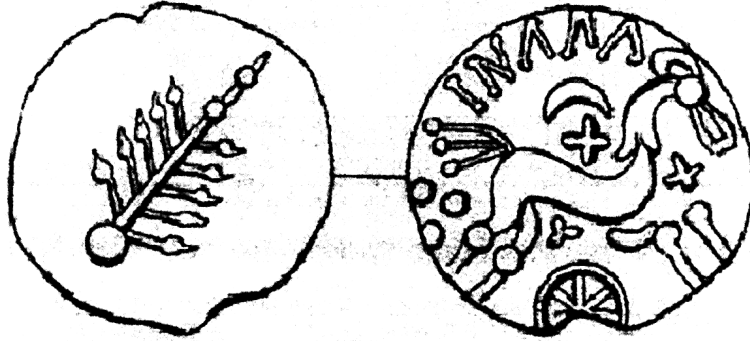
चित्र-3



—“Tascio” or “Tascif” of Early Briton Coins is Corn  
Spirit “Tas” or “Tash-up” of Hittite-Sumerians.  
(Coins after Evans)

Notes—Corn “Crosses” of Indara or Andrew  $\times$  type in c and d and pellet or “cup”  
Crosses in b with bead and bead as in archaic Hittite sculpture of Tash-up

चित्र-4



—Ancient Briton "Catti" coin of 2nd cent. B.C. with Sun-Crosses, Sun-horse, etc., and legend INARA (Hitto-Phaenician father-god Indaya or "Andrew")  
(After Evans)

चित्र-5



रोमन जनों की फार्च्यूना

चित्र-6



*Britannia tutelary of Phœnicians in Ancient Egypt as Bāīritvy. "The Mother of the Waters" (Nul) or "Naiad".  
(After Budge)*

चित्र-7

## भारतीय धर्म-सम्प्रदायों की मूलभूत समानताएँ

शत्रुघ्न प्रसाद\*

भारत ने धर्म के व्यापक रूप को अपनाया है। धर्म-साधना से अनुप्राणित संस्कृति ने चिन्तन, अभिव्यक्ति एवं उपासना की स्वतन्त्रता प्रदान कर मानवीय-मनोवैज्ञानिक-सांस्कृतिक उत्कर्ष को ही प्रकट किया है। फलतः यहाँ धर्म-पन्थ-सम्प्रदाय के क्षेत्र में दर्शन एवं उपासना की विविधता दृष्टिगत है। सबमें भिन्नता है। इनमें शास्त्रार्थ होते रहे हैं। द्वन्द्व भी उभरता रहा है। परन्तु पश्चिम के सेमेटिक (सामी) मजहबों के समान संघर्ष नहीं हुए हैं। कारण है कि भारतीय-धर्म-पन्थ-सम्प्रदायों में मूलभूत समानताएँ रही हैं। एक-दूसरे की आलोचना के बाद भी आदान-प्रदान होता रहा है। जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। बौद्ध धर्म में बुद्ध के पहले उनके चौबीस बोधिसत्त्व रूप अवतरित हुए हैं। वैदिक परम्परा के भागवत पुराण में विष्णु के चौबीस अवतारों में श्री ऋषभदेव और श्री बुद्धदेव—दोनों परिगणित हैं। श्रमण (जैन एवं बौद्ध) का अहिंसा तत्त्व वैदिक परम्परा के वैष्णव पन्थ में स्वीकृत है। बौद्ध धर्म के महायान ने बुद्ध को विष्णु के समान ईश्वर-सा मानकर उनकी प्रतिमा की पूजा आरम्भ कर दी थी। जबकि बौद्ध धर्म मूलतः अनीश्वरवादी है। और सांस्कृतिक मूल्य प्रायः समान हैं। कारण है कि भारतीय चिन्तन ने विभिन्न उपासना पन्थों को एक ही लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार वा परमात्म दर्शन तक पहुँचने के मार्गों के रूप में मान्यता दी है। उपास्य वा आराध्य के विभिन्न रूपों और स्थानीय देवताओं को एक ही ब्रह्म के अनेक रूपों की सहज स्वीकृति मिली है।

अतः यह कहा जा सकता है कि चिन्तन एवं उपासना की व्यापक मानव-चेतना ही भारतीय पहचान है।

भारतीय धर्म साधना की मूलभूत समानताओं पर विभिन्न धर्मों एवं पन्थों की मान्यताओं-अवधारणाओं द्वारा विचार करेंगे। प्रथम बिन्दु - सम्पूर्ण सृष्टि - सम्पूर्ण प्राणियों में एक ही परमचेतना वा ब्रह्म वा ईश्वर की विद्यमानता।

\* डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद, बी-3, त्रिभुवन विनायक रेजीडेंसी, श्रीराम अपार्टमेंट के सामने, पटना-800001 (बिहार), मो. 09413685504



वैदिक वाङ्मय में (क) एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति — ऋक् (ख) स ओतप्रोतश्च विभूः प्रजासु—यजु, (ग) एकः देवः सर्वभूतेषु गूढ - श्वेता, उपनि, अथर्ववेद के भूमिसूक्त ने बहुत पहले भारतभूमि की इस विविधता को मान्यता दे दी थी।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं

नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् (45)

यहाँ पर अनेक प्रकार के जन रहते हैं। इनकी भाषाएँ विविध प्रकार की हैं। अपने-अपने प्रदेशों के अनुसार वे नाना धर्मों को मानने वाले हैं।

‘हनुमन्नाटक’ के रचयिता प्रबोध मिश्र ने उस युग के सभी धर्मों-सम्प्रदायों की समानता की महत्त्वपूर्ण चर्चा की है—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो  
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।  
अहंन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः  
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

बीसवीं शताब्दी के राष्ट्र-चिन्तकों ने इस राष्ट्र की वैविध्यपूर्ण उपासनाओं में समन्वय-चेतना की अनुभूति कर सबका अभिनन्दन किया है।

यं वैदिका मन्त्रदृशः पुराणाः इन्द्रं यमं मातरिश्वानमाहुः।  
वेदान्तिनोऽनिर्वचनीयमेकं यं ब्रह्म शनदेव विनिर्दशन्ति॥  
शैवा यमीशं शिव इत्यवोचन् यं वैष्णवा-विष्णुरिति स्तुवन्ति।  
बुद्धस्तथार्हन्ति बौद्धजैनाः सत्श्री अकालेति च सिक्ख सन्तः॥  
शास्तेति केचित् प्रकृति कुमारः स्वामीति मातेति पितेति भक्त्या।  
यं प्रार्थयन्ते जगदीशितारं स एक एव प्रभुरद्वितीयः॥

मैं समझता हूँ कि इस मंगलवाणी में भारत की वैविध्यपूर्ण धर्म-साधना का अभिनन्दन करते हुए एक ही परम सत्य की अभिव्यंजना की गई है। यही त्रिवेणी संगम संस्कृति है। यह विश्व में विशिष्ट है। श्रेष्ठ है। अतः कहा गया है—सा संस्कृति प्रथमा विश्ववारा। वह एक है। अनेक नामों से सम्बोधित होता है। सम्पूर्ण प्रजा (प्राणियों) में वही ओत-प्रोत है। एक ही ब्रह्म सबमें परिव्याप्त है।

जैन धर्म के अनुसार : चैतन्य द्रव्य को जीव कहा जाता है। चेतना लक्षणो जीवः। जीव नित्य है। यही केवल ज्ञान से परमात्म रूप होता है। परमात्मा की स्थिति तथा शाश्वतता अमान्य है। जीवात्मा ही कैवल्य साधना से मुक्त हो जाता है।

बौद्ध धर्म के अनुसार तो ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। संसार की वस्तुएँ क्षणिक हैं। परिवर्तनशील हैं। दुःख से मनुष्य त्रस्त रहता है। दुःख का मूल कारण तृष्णा है। और आत्मा भी अनित्य है। यह अस्थायी शरीर और मन का संकलन मात्र है।

इसके बावजूद महायान शाखा ने बुद्ध को ईश्वर के रूप में मान्यता दे दी। उनकी प्रतिभा की पूजा होने लगी। पर बौद्ध अनीश्वरवादी ही कहलाए।

सिक्ख धर्म के गुरु नानक देव ने 'जपु जी' में कहा है—

इक ओंकार सतिनामु करता पुरुस निरभउ निरवैरु अकाल मूरति... वह ओंकार रूप परमात्मा ही सत्य है। सबका कर्ता है। वह कालातीत परमात्मा अभय एवं सबका प्रिय है।

उपनिषद् के अनुसार 'ॐ तत्सत्' वह है...ओंकार रूप है। यही भाव 'जपुजी' में पंजाबी भाषा में व्यंजित है।

कबीर पन्थ के सन्त कबीरदास की वाणी है—

एक ही जोति बरे कबीरा सबके अन्तर माहि

अर्थात् सभी प्राणियों में एक ही परमज्योति रूप परमात्मा विद्यमान है,

द्वितीय बिन्दु : सृष्टि-प्रकृति-पर्यावरण के प्रति दृष्टि—

वैदिक-पौराणिक—यह सृष्टि-प्रकृति परमात्मा की श्रेष्ठ रचना है। अतः वह प्रकृति शब्द से सम्बोधित है। यह जड़ नहीं चैतन्य है। अतः प्रकृति माँ है। हिमालय पर्वत देवतात्मा है। गंगादि नदियाँ माँ हैं। अश्वत्थ-पीपल में वासुदेव का वास है। श्रीफल बेलवृक्ष शिव को प्रिय है। तुलसी विष्णुप्रिया है। नीम में देवी का वास है। अतः स्मणीय है। इसीलिए यजुर्वेद में शान्तिपाठ (36-17) में कहा गया है—'ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षः शान्तिः पृथ्वी शान्तिरापः शान्तिओषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वः शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥

अर्थात् सूर्यलोक में शान्ति रहे। आकाश शान्त रहे। पृथ्वी पर शान्ति हो। जल शान्त रहे। औषधियाँ एवं वनस्पतियाँ शान्त रहें... क्षोभ और उथल-पुथल नहीं हो, तभी मानव-जीवन भी सुख-शान्ति में रह सकेगा।

जैन धर्म में सभी प्राणियों तथा वनस्पतियों के प्रति अहिंसा-भाव यानी संरक्षा भाव और प्रेम भाव अपेक्षित है। यही धर्म है।

बौद्ध धर्म में सिद्धार्थ को पीपल यानी बोधिवृक्ष की छाया में ही ज्ञान-बुद्धत्व प्राप्त हुआ था। सारनाथ के वन में प्रथम प्रवचन दिया था। धर्मचक्र प्रवर्तन का शुभारम्भ हुआ था। स्वयं सिद्धार्थ का जन्म शालवन में शालवृक्ष के नीचे हुआ था।

कबीर पन्थ ने प्रकृति के कल्याणकारी रूप की पहचान कराई है। प्रकृति के माध्यम से मानव को निस्पृह परोपकार-त्याग की सीख दी है—

वृक्ष न कबहुँ फल भखै, नदी न संचै नीर।

परमारथ के कारने साधुन धरा शरीर॥

सिक्ख पन्थ के गुरुनानक देव ने आरती की अवधारण की आध्यात्मिक दृष्टि में पूरी प्रकृति को समाहित कर लिया है। यह भारत की निर्गुण धारा का वैशिष्ट्य है।

गगन में थालु रवि चन्दु दीपक बने तारिका मंडल जनक मोती ।

धूप मलआनलो पवणु चवरो करै सगल वनराइ फूलत जोनी॥

कैसी आरती होइ भवखंडना तेरी आरती ।

अनहता सबद बाजंत भेरी॥

हे प्रभु! तुम्हारी विराट आरती में आकाश ही आरती का थाल है। उसमें सूर्य और चन्द्रमा रूपी दीपक हैं। तारामंडल उस थाल में जुड़े हुए मोती हैं। मलय पवन आरती की धूप है। वायु चँवर डुला रही है और सम्पूर्ण वनस्पति पूजा के फल हैं।

हे भवखंडन! तुम्हारी आरती कितनी अद्भुत है। अनाहत शब्द आरती की भेरी के रूप में बज रहा है।

सभी पन्थों एवं धर्मों में प्रकृति के प्रति समादर-श्रद्धा का भाव है। सभी भारतीय धर्मों ने प्रकृति को चैतन्य माना है।

तृतीय बिन्दु : भारतीय धर्म-पन्थों में समस्त जीवों के प्रति मंगल कामना वैदिक-पौराणिक दृष्टि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

अर्थात् सभी सुखी हों, सभी निरोग हों। सभी चतुर्दिक भद्र ही भद्र देखें। कोई दुःखी नहीं हो।

मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।

आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यतु स पंडितः॥

अर्थात् अपनी पत्नी के अतिरिक्त सभी स्त्रियाँ माँ के समान हैं। दूसरे के धन को मिट्टी का ढेला समझकर नहीं चुराना और सभी प्राणियों को अपने समान मानना ही सच्ची मानवता है।

जैन धर्म ने घोषणा की है—‘एककेव माणुसी जाई’ यानी मनुष्य जाति एक है। सभी मनुष्य समान हैं। बाहरी भेद कृत्रिम है। अहिंसा महाव्रत के अनुसार अपने प्राणों के समान पर के प्राणों को समझकर उनकी सुरक्षा करें। और धर्मानुसार जीवन जीकर आत्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति, अनन्त दर्शन तथा अनन्त आनन्द को प्राप्त करें। इसी से सबका कल्याण है।

बौद्ध धर्म ने सबकी मंगल कामना की है। मंगल कामना के शब्द हैं—

भवतु सब्ब मंगलं रक्खन्तु सब्ब देवता ।

सब्ब बुद्धानुभावेन सदा सोत्थि भवन्तु ते॥

सबका मंगल हो। सबकी रक्षा देवता करें। बुद्ध की कृपा से सभी सुखी हों।

यह तो बार-बार कहा गया है—‘चरन्थ भिक्खवे बहुजन हिताय बहुजन सुखाय’ अर्थात् बहुजन के हित एवं सुख के लिए भिक्षु समाज में विचरण करते हैं।

सिक्ख धर्म के प्रणेता गुरुनानक देव ने तुर्क-मुगल आक्रमण-शासन के युग में मानवीय समता की घोषणा की थी—

ना कोई हिन्दू ना मुसलमान ।

पाँच तत्त्व का पुतला नानक मेरा नाम॥

जाति-पाँति से त्रस्त समाज के मध्य कहा था—

खत्री ब्राह्मण सूद बैस

जाति पूछि न देई दाति

नानक भागैं पाइये

तिह पहरें पिछली राति ।

गुरु गोविन्द सिंह ने सबके कल्याण की कामना की है—

नानक नाम चढ़दी कला, तेरे भाने सरबत का भला ।

कारण है कि—

‘हिंदू तुरक कोउ राफजी इमाम साफी

मानस की जात सभे एकै पहिचानबो ।

कबीर पन्थ : कबीरदास के सम्बन्ध में नाभादास जी ने लिखा है—

हिन्दू तुरुक प्रमान रमैनी शबदी साखी ।

पक्षपात नहि वचन सबहि के हित की भाखी॥

कबीर ने ही लिखा है—

परमारथ के कारने साधुन धरा शरीर॥

अहंकार और मोहमाया छोड़कर आत्मकल्याण और जन कल्याण के लिए सबका आवाहन किया है—

कबीरा खड़ा बाजार में लिये लुकाठी हाथ ।

जो घर फूँके आपना सो चले हमारे साथ॥

और मानवता के कल्याण के लिए ‘ढाई आखर प्रेम’ को आधार बनाया है ।

आत्मिक प्रेम और आराध्य राम से प्रेम ही सर्वस्व है ।

चौथा बिन्दु : धर्म का स्वरूप वैदिक-पौराणिक चिन्तन के अनुसार धर्म के दस लक्षण हैं । मनु ने बताया है—

धृति क्षमा दमोस्तेय शौचम् इन्द्रियनिग्रह ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्म लक्षणम्॥

अर्थात् जीवन में धैर्य रखना, क्षमा करना, तृष्णाओं पर नियन्त्रण रखना, चोरी नहीं करना, शरीर और मन की शुचिता, इन्द्रियों को नियन्त्रित करना, सुबुद्धि, विद्या की प्राप्ति, सत्य बोलना एवं क्रोध नहीं करना—ये ही दस मानवीय गुण हैं । जिन्हें धारण करना है । साथ ही अन्तर के षड्रिपुओं—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और मत्सर (द्वेष) का निवारण ।

श्रीनारायण पंडित के अनुसार—

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।

धर्मो हितेषामधिको विशेषः धर्मेणहीनः पशुभिः समानः॥

भोजन, निद्रा, भय और मैथुन की इच्छाएँ मनुष्य और पशु में एक समान हैं। इन चारों से अधिक मानव की विशेषता धर्म की होती है। धर्म से हीन मनुष्य पशु के समान होता है। अतः पशु प्रवृत्तियों को संयमित कर धर्म को धारण करना होता है। यानी मानवीय गुणों को धारण करके हम सच्चे मानव बन सकें। मानवत्व से देवत्व की ओर अग्रसर हो सकें।

जैन धर्म के अनुसार भी दस मानवीय गुणों को धारण करना है। ये दस हैं—1. क्षमा = दूसरे को क्षमा करना, 2. मार्दव = अभिमान नहीं करना, 3. आर्जव = कुटिलता रहित सरल जीवन, 4. शौच = अन्दर-बाहर की शुचिता, 5. सत्य = जो देखा, सुना और समझा है, उसे ही कहना, 6. संयम = अपनी कामनाओं और इच्छाओं को वश में रखना, 7. तप = त्याग और आराधना द्वारा कल्याण-पथ पर अग्रसर होना, 8. त्याग = समष्टि-कल्याण के लिए अपने साधनों का त्याग, 9. अपरिग्रह = संग्रह नहीं करना, 10. ब्रह्मचर्य = अपनी गृहस्थी को सन्तुष्ट रखना।

बौद्ध धर्म के अनुसार—धर्म के अष्टांगिक मार्ग हैं—

1. सम्यक् दर्शन (दृष्टि) = वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को जानना। दुःख का कारण अविद्या है। अविद्या से मिथ्या दृष्टि।
2. सम्यक् संकल्प = बुद्ध के चार आर्य सत्त्यों के पालन का निश्चय।
3. सम्यक् वाक् = सम्यक् संकल्प की अभिव्यक्ति
4. सम्यक् कर्मान्त = बुरे कर्मों का परित्याग। बुरे कर्म हैं—हिंसा, स्तेय (चोरी करना) तथा इन्द्रिय भोग।
5. सम्यक् आजीविका = ईमानदारी से जीविकोपार्जन।
6. सम्यक् व्यायाम = मन को अच्छे भावों से पूर्ण रखना।
7. सम्यक् स्मृति = वस्तुओं के वास्तविक रूप के सम्बन्ध में जागरूकता।
8. सम्यक् समाधि = ऊपर के सात मार्गों पर चलने के बाद निर्वाण की ओर बढ़ना ही समाधि है।

सिक्ख धर्म के प्रणेता गुरुनानक ने 'जपु जी साखि' में जीवन साधना—अध्यात्म साधना के पाँच खंडों के बारे में बताया है—

1. धरम खंड, ग्यानखंड, सरभ (श्रम खंड), करमखंड, सचुखंड/धरम खंड में जीव गुरु से शिक्षा पाकर मानव कर्तव्य को समझने लगता है। परमात्मा और उसकी सृष्टि को समझ जाता है।

2. ग्यानखंड में पिंड और ब्रह्मांड के आवरण उठ जाते हैं। अद्वैत की अनुभूति होती है। प्राणिमात्र में परमचेतना की झलक मिलती है।

3. सरमखंड, में साधक वा भक्त क्षेम के द्वारा सबकी सेवा करता है।
4. करम खंड में अकाल पुरुष परमात्मा की कृपा बरसती है।
5. सचु खंड में भक्त पहुँचकर निरंकार के दर्शन कर मग्न होता है। इस साधना के लिए काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार को छोड़ना पड़ता है। इन पर नियन्त्रण लगाना पड़ता है। तभी उस निर्गुण राम की भक्ति सम्भव है।

कबीर पन्थ के अनुसार — माया महा ठगिनी हम जानि। अतः माया यानी कंचन और कामिनी के लोभ से मुक्त होना कबीर ने शीतल समता की बात की है। ऊँच-नीच और हिन्दू-मुस्लिम के भेद को गलत बताया है। कोई मद्धिम (छोटा) नहीं है। कहै कबीर मद्धिम नहिं कोई, सो मद्धिम जा मुखि राम न होई,

अद्वैत दर्शन कबीर की धर्म-चेतना का आधार है।

लाली मेरे लाल की जित देखौ तित लाल।

लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

इसके लिए प्रेमपरक भक्ति-निर्गुण राम की भक्ति ही एकमेव मार्ग,

राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।

कबीर पीवन दुर्लभ है, माँगै सीस कलाल॥

इस भक्ति के लिए सर्वस्व त्याग-अहंकार का त्याग आवश्यक है।

पाँचवाँ बिन्दु : मानव जीवन का प्रयोजन

वैदिक पौराणिक धर्म ने जीवन के चार पुरुषार्थों पर बल दिया है। चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म पर चर्चा हो चुकी है। धर्म के नियन्त्रण में अर्थ (धन) का उपार्जन आवश्यक माना गया है। धर्मरहित अर्थ अनर्थ हो जाता है। अर्थ लोभ भयानक होता है। अतः ईशावास्य उपनिषद् में कहा गया है—तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृह्य कस्यचित्धनम्॥

त्याग के साथ भोग करो। धन लोभ मत करो। धन तुम्हारा नहीं है। इसी प्रकार कामोपभोग भी धर्म-सम्मत-संयमित होना आवश्यक है। अर्थ और काम की प्रबलता से अपराध बढ़ते हैं। संघर्ष होता है। अतः धर्मानुसार अर्थ एवं काम की प्राप्ति कर—प्रेय को पाकर श्रेय—निःश्रेयस की ओर बढ़ता-मोक्ष - सच्चिदानन्दनमय हो जाना जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। पुराणों ने शिव, शक्ति तथा विष्णु एवं विष्णु के अवतारों की भक्ति और मुक्ति की प्राप्ति यानी शिवलोक या गोलोक की प्राप्ति कर जीवन-मरण के चक्र से मुक्त होना अन्तिम प्रयोजन माना है। यज्ञ संस्कृति के बाद सगुण की भक्ति भी इस धर्म में समाहित हो गई।

जैन धर्म ने माना है कि चैतन्य जीव इच्छाओं से बद्ध हो जाता है। बन्धनों से दुःख पाता है। कैवल्य ज्ञान=पूर्ण ज्ञान से ही बन्धन जनित दुःख से मुक्त हो पाता है। वह जिन (विजयी) कहलाता है। यही मानव जीवन का लक्ष्य है। इसके लिए सम्यक्

दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र को अपनाना पड़ेगा। यही मोक्ष का मार्ग है। यह साधना ही जीवन का अन्तिम प्रयोजन है।

बौद्ध धर्म वा भगवान बुद्ध ने जीवन के विवेचन में जीवन का प्रयोजन बता दिया है। चार आर्य सत्य के द्वारा स्पष्ट किया है। जीवन में दुःख है। दुःखों का कारण है। दुःखों का अन्त सम्भव है। दुःखों के अन्त का मार्ग है। इसके लिए उन्होंने संसार को अनित्य माना। आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को अमान्य कर दिया। जीवन को दुःख से मुक्त करने के लिए अष्टांग मार्ग बताया। एतदर्थ अहिंसा तथा करुणा पर बल प्रदान किया। इच्छाओं से मुक्ति पाकर निर्वाण पाने की घोषणा की। निर्वाण ही अन्तिम लक्ष्य है।

कबीर पन्थ तथा नानक पन्थ : दोनों आस्तिक हैं। दोनों निर्गुणवादी भक्तिमार्गी हैं। जैसे तुलसी तथा सूर सगुणमार्गी भक्त हैं। चारों भक्तिमार्गी हैं। कबीर तथा नानक देव द्वैत दर्शन के आधार पर निर्गुण ब्रह्म राम की भक्ति करके जीवन को सफल करना चाहते हैं। सूर तथा तुलसी ने क्रमशः शुद्धाद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत के आधार पर सगुण कृष्ण तथा सगुण राम की भक्ति को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया था।

सन्त कबीर, सन्त रैदास, गुरुनानक देव आदि निर्गुणमार्गी भक्ति साधक हैं। उन्होंने अद्वैत चिन्तन की गहरी अनुभूति की थी। द्वैत उपनिषदों का सारांश है। उन्होंने वर्ण, जाति, कुल, मजहब—सारे भेदभावों को ठुकरा दिया था। कबीरदास तथा नानक देव ने दोनों हिन्दू एवं इस्लाम की रूढ़ियों तथा पाखंडों की निर्भीक आलोचना की थी। और समता-समरसता के आधार पर समाज की रचना करने का प्रयास किया था। परमात्मा में मग्न हो जाना-भक्ति तथा परमात्म दर्शन के आनन्द में लीन हो जाना उनका उद्देश्य रहा।

इस प्रकार भारत के सभी धर्मचिन्तकों तथा साधकों ने—आस्तिक हों या नास्तिक और निर्गुणमार्गी हों या सगुणमार्गी—मानव-चेतना एवं मानव-जीवन के उत्कर्ष के सम्यक् मार्ग की ओर इंगित किया है। अद्वैत अनुभूति या आत्मानन्द के लिए अहिंसा, करुणा, प्रेम, त्याग, सेवा और ध्यान वा भक्ति द्वारा जीवन का मुक्तिमार्ग बताया है। सबके समक्ष प्राणिमात्र का कल्याण है। विभिन्नता तथा विविधता में समानता के तत्त्व हैं। इसीलिए तो स्वामी विवेकानन्द ने कहा था हिन्दू धर्म का बुद्धिपक्ष बौद्ध धर्म है। और पंजाब में सनातन धर्म, आर्य समाज का वैदिक धर्म तथा सिक्ख धर्म—तीनों को एक मानकर जोड़ने की बात की थी।

## गाँधी, जिन्ना और नेहरू

शंकर शरण\*

गाँधी, जिन्ना और नेहरू के मूल्यांकन, भारत-विभाजन की पीठिका, जिसे बनाने एवं बढ़ाने में विभिन्न नेताओं, विचारों, संगठनों तथा घटनाओं की भूमिका, उसके तात्कालिक एवं दीर्घकालीन परिणाम, आदि के बारे में हमारे देश में प्रायः आधे-अधूरे या अतिरंजित विवरण पढ़ाए जाते रहे हैं। जहाँ तक देश विभाजन के सिद्धान्त, और तत्सम्बन्धी विमर्श का प्रश्न है, तो उसे कभी ठीक से छुआ भी ही नहीं जाता।

इसमें पहला दिलचस्प तथ्य यह है कि जिन्ना और नेहरू दोनों ही अपने-अपने धार्मिक समुदाय के विश्वासों, परम्पराओं, संस्कृति से बहुत कटे रहे थे। जिन्ना अपने विचारों, जीवन-शैली, आदतों आदि में लगभग पूर्णतः गैर-इस्लामी थे। पूरे अँग्रेज, उदारवादी, यूरोपीय किस्म के आधुनिक, व्यक्तिवादी और स्वच्छन्द। उसी तरह, नेहरू के भी संस्कार अपने पिता मोतीलाल नेहरू की तरह लगभग उसी तरह थे। अपनी माता के कारण उनमें हिन्दू धर्म की मान्यताओं की कुछ धुँधली, हल्की, भावनात्मक समझ चाहे रही हो। अन्यथा वे लगभग हिन्दू-विरोधी सामाजिक मूल्यों में दीक्षित हुए थे। उनके प्रभावशाली पिता मुस्लिम-प्रभावित हिन्दुओं जैसा जीवन जीते रहे थे।

यह अकारण नहीं कि बाद में जवाहरलाल नेहरू ने स्वयं को मुस्लिम मिजाज का व्यक्ति कहा, जो उनके अपने ही शब्दों में केवल 'जन्म की दुर्घटना से' हिन्दू था।<sup>1</sup> यह हल्के से कही बात नहीं थी। उनके अनेक समकालीन और निकटवर्ती अवलोकनकर्ता भी इसे एक तथ्य के रूप में लेते थे। नीरद सी. चौधरी ने लिखा है—

अपने सामाजिक और सांस्कृतिक लगाव से वह (नेहरू) एक हिन्दू के बजाय मुस्लिम अधिक हैं, यदि उनमें कोई भारतीयता है भी। उनका परिवार इस्लामीकृत हिन्दुओं (Islamized Hindus) में से आता था और युक्त प्रान्त में वैसे हिन्दू जो परिष्कृत थे, प्रायः प्रान्त के मुसलमानों के साथ ही उठते-बैठते थे, क्योंकि वे अधिक सुसंस्कृत थे, जबकि हिन्दू लोग एक तरह के उजड़ू थे। साथ ही नेहरू को हिन्दुत्व की कोई समझ न थी और न उसे वह पसन्द ही करते थे।<sup>2</sup>

\* संपर्क : 4/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, अरविन्दो मार्ग, नई दिल्ली-1110016



बचपन से ही जवाहरलाल पर इस्लामी-ईसाई मूल्यों का अधिक प्रभाव पड़ा था। अतः जब इंग्लैंड में पढ़ाई पूरी कर वे बैरिस्टर बनकर भारत लौटे तो वह अपने ही देश में पराए से थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि वह अपने को दूसरों से ऊँचा और भिन्न महसूस करते थे, जो यहाँ के लोगों के लिए सहज-स्वीकार्य होना कठिन लगता था ('I was a bit of a prig, with little to commend me.') वह अपनी शिक्षा, विचार और तौर-तरीकों में लगभग पूर्णतः यूरोपीय थे, जिसे भारतीय परम्परा, संस्कृति की कोई समझ नहीं थी।<sup>3</sup>

सन् 1922 में जब युवा जवाहरलाल यहाँ गाँधी जी के खिलाफत-असहयोग में जेल गए तो उनके पढ़ने के लिए घर से कोई दो सौ पुस्तकें भेजी गई थीं। उनके एक जीवनीकार ने उसकी लम्बी लिस्ट भी दी है। उसमें तमाम यूरोपियन साहित्य था, जबकि एक भी भारतीय ग्रन्थ न था, न साहित्य, न धर्म, न संस्कृति सम्बन्धी।<sup>4</sup> भारतीय चिन्तन, दर्शन, मनीषा और समाज के प्रति यह अज्ञान, उपेक्षा और हिकारत का भाव भी उनमें अन्त तक रहा। इस तथ्य को उनके प्रशंसक विद्वानों ने भी नोट किया है।<sup>5</sup> इस प्रकार लालन-पालन, परिवेश, शिक्षा-दीक्षा तथा रुचि, हर तरह से नेहरू भारतीय हिन्दू समाज से बिल्कुल दूर रहे।

तब स्वाभाविक था कि नेहरू अपने को ब्रिटिश मानसिकता के अधिक निकट महसूस करते। लगभग चौतीस वर्ष की परिपक्व आयु तक उन्हें कभी भारत में अँग्रेजों के हाथों निम्न व्यवहार का व्यक्तिगत अनुभव भी नहीं हुआ था। सन् 1923 में नाभा में गिरफ्तार कर उन्हें पहली बार हथकड़ी लगाई गई, तब उन्हें अपमान-बोध हुआ। इस के बाद भी, अन्त तक वह स्वयं को भारतीय लोगों से किंचित अलग ही महसूस करते रहे।

यहाँ तक कि 1947 में लॉर्ड माउंटबेटन के नए वायसराय के रूप में आने की खबर सुनने पर नेहरू को एक तरह के अपनापे भरी खुशी हुई। तब तक नेहरू 58 वर्ष के यानी लगभग वृद्ध व्यक्ति हो चुके थे। माउंटबेटन के आगमन की खबर पर उनके शब्द यह थे : 'इन सब हिन्दुओं के बीच एक साफ-सुथरे, अँग्रेज समाजवादी से मिलना बड़ा सुखद रहेगा।' ('After all these Hindus it will be good to meet a straightforward English Socialist again.'<sup>6</sup>)

इसमें अपने साथी काँग्रेस नेताओं की ओर हेय संकेत कितना स्पष्ट था! यह भी कि उन सहयोगियों की हीनता का कुछ सम्बन्ध उनके हिन्दू होने के कारण भी था। यह केवल अपने सहयोगी काँग्रेस नेताओं से ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण भारतीय हिन्दू समाज से भी नेहरू की व्यावहारिक भावनात्मक दूरी का एक संकेतक है। मानो काँग्रेस के अपने सहयोगी बन्धुओं के साथ रहना, समय बिताना नेहरू की पारिस्थितिक विवशता भर रही हो।

लन्दन में पढ़ाई के दौरान नेहरू जी का ढंग उच्चवर्गीय रेडिकल वाला था, जो रोजी-रोटी की चिन्ता से मुक्त, जीवन की कठोर वास्तविकताओं के अनुभव से

अपरिचित, विचारों-कल्पनाओं में तरह-तरह की कवित्वमय, रूमानी, क्रान्तिकारी भावनाओं से ओत-प्रोत रहता है। जिसमें वास्तविकता को कठोरतापूर्वक जाँचने-परखने तथा तदनुसृत नीतियाँ या कार्यक्रम बनाने के प्रति स्वभावगत अनिच्छा पाई जाती है। क्योंकि वह रूमानी, क्रान्तिकारी मनोभाव की तुष्टि के विपरीत पड़ती है (यह भी कारण है कि नेहरू अपने प्रिय आदर्श, सोवियत कम्युनिज्म की कटु वास्तविकताओं पर सदैव आँखें मूँदे सहानुभूतिपूर्ण बने रह सके)। प्रायः ऐसा रूमानी, उच्चवर्गीय व्यक्ति जाने-अनजाने ठकुरसुहाती पसन्द करता है, यानी अपने विचारों की प्रशंसा चाहना और आलोचना करने वाले को नापसन्द भी करता है।

नेहरू की तरह जिन्ना भी उच्चवर्गीय थे और व्यक्तिगत रूप से गैर-इस्लामी, बल्कि इस्लाम-विरोधी रुचि के। उनकी जीवन-शैली यूरोपीय, व्यक्तिवादी और स्वच्छन्द थी। अपने राजनीतिक विचारों में जिन्ना ब्रिटिश शैली की संवैधानिक राजनीति और कानूनी-पद्धति के समर्थक थे। गाँधी जी की तरह भीड़ को राजनीतिक गतिविधियों में जोड़ना-खींचना उन्हें बिल्कुल नापसन्द था। इसे वह खतरनाक और हानिकारक मानते थे।

जिन्ना का मूल राजनीतिक दृष्टिकोण ब्रिटिश साम्राज्य के नाम-भर अधीन भारतवासियों के लिए सम्मानपूर्ण जीवन प्राप्त करना था। यही लम्बे समय तक उनका दृष्टिकोण रहा। इस अर्थ में जिन्ना गाँधी और नेहरू दोनों से भिन्न थे। गाँधी अपने ही शब्द में 'राज-भक्त', यानी अंग्रेज साम्राज्य के सेवक रहे थे। यह स्थिति सन् 1919-20 तक रही थी। यानी अपनी आयु के 50 वर्ष तक गाँधी भारत में अंग्रेजी राज के सैद्धान्तिक व्यावहारिक समर्थक थे! जिन्ना में यही कभी नहीं था। काँग्रेस में और होमरूल लीग में तिलक, एनी बेसेंट, जैसे नेताओं के साथ जिन्ना की राजनीति अंग्रेजी शासन के विरुद्ध थी। यह जरूर है कि वैयक्तिक रूप में जिन्ना में अहंकार था। किन्तु नेहरू के विपरीत जिन्ना के विचारों में किसी रूमानियत, भावुकता, क्रान्तिवादिता, प्रगतिशीलता, चापलूसी-पसन्दगी या ओढ़ी गई मनोवृत्ति (Pretensions) का संकेत नहीं मिलता।

ऐसा व्यक्ति कैसे एक इस्लामी राजनीतिक बन गया, और समय के साथ भारत के मुसलमानों का 'एकमात्र प्रवक्ता' बन गया—यह इतिहास का एक रोचक प्रश्न है। किन्तु यह जिन्ना के समकालीन अवलोकनकर्ताओं के लिए भी एक पहेली-सा ही था। न केवल इसलिए कि जिन्ना का रहन-सहन, आचार-व्यवहार, मिजाज-अन्दाज, विचार-विश्वास कुछ भी इस्लाम से दूर-दूर तक मेल नहीं खाता था। बल्कि इसलिए भी कि वे राजनीति में मजहबी तत्त्व लाने के सख्त खिलाफ थे।

वस्तुतः सन् 1920 में काँग्रेस नेताओं में सबसे प्रमुख जिन्ना ही थे, जिसने गाँधी को इस्लाम के अन्तरराष्ट्रीय खलीफत आन्दोलन को समर्थन देने और मुल्ला-मौलवियों को राजनीतिक जमीन प्रदान करने से कठोरतापूर्वक मना किया था। 1928 तक, यानी अपनी आयु के 52 वर्ष तक, जिन्ना हिन्दू-मुस्लिम एकता की गम्भीर

पैरोकारी करते रहे थे। उनका ठीक ही मानना था कि यह एकता होते ही भारत को डोमीनियन स्टेट्स मिल जाएगा। वही जिन्ना कुछ ही वक्त बाद यह कहने लगे कि “पाकिस्तान बनना तो उसी दिन से शुरू हो गया था जब हजार साल पहले भारत में पहला गैर-मुस्लिम इस्लाम में धर्मान्तरित हुआ था।” और यह कि “या तो भारत का विभाजन होगा या भारत का विनाश।”

जिन्ना के इस वैचारिक कायाकल्प के पीछे कुछ लोग वैयक्तिक हेठी को भी कारण मानते हैं जो गाँधी के भारतीय राजनीति के रंगमंच पर उभरने, और भीड़ वाली राजनीति शुरू करने से जिन्ना को प्रतीत हुई। यदि जिन्ना को कोई प्रतिद्वन्द्विता रही, तो गाँधी से ही। उम्र में भी जिन्ना गाँधी के निकट थे। गाँधी जिन्ना से सात वर्ष ही बड़े थे। जब कि नेहरू जिन्ना से तेरह वर्ष छोटे थे। जब जवाहरलाल का राजनीति में पदार्पण भी नहीं हुआ था, तभी जिन्ना काँग्रेस के सबसे बड़े नेताओं में से एक थे। उन्हें कुछ ग्रहण लगा तो गाँधी के आगमन से ही।

बाद में भी, जिन्ना को गाँधी जी के समानान्तर देखा जाता था। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने 1943 में महादेव गोविन्द रानाडे की एक-सौ एकवीं जयन्ती पर पूना की दकन सभा द्वारा आयोजित सभा में विशेष व्याख्यान दिया था। उसमें रानाडे की महानता की पृष्ठभूमि में समकालीन ‘दो महान व्यक्तियों’ की चर्चा थी, जो ‘भारतीय क्षितिज पर बिना नाम लिये पहचाने जा सकते हैं’। यह दो व्यक्ति गाँधी और जिन्ना थे। पूरे भाषण में नेहरू का कोई उल्लेख तक न था।<sup>7</sup> यह स्थिति सन् 1943 की थी।<sup>8</sup>

गाँधी-जिन्ना की आपसी शुरुआत ही अशुभ हुई। सन् 1915 में दक्षिण अफ्रीका से गाँधी के भारत आगमन पर उनके स्वागत में गुजरात सोसाइटी के अग्रणी नेताओं में जिन्ना थे। वस्तुतः जिस सभा में गाँधी से जिन्ना की पहली भेंट हुई, उसकी अध्यक्षता जिन्ना ही कर रहे थे। किन्तु गाँधी जी के पहले शब्द सुनते ही जिन्ना को झटका लगा, जब उन्होंने “एक मुसलमान भाई के समिति का सदस्य ही नहीं, बल्कि उसकी अध्यक्षता भी करने पर” प्रसन्नता व्यक्त की। यह शब्द स्पष्टतः एक तरह की दूरी का बोध कराते थे कि एक मुसलमान का वैसे स्थान पर होना सामान्य नहीं। स्टैनले वोलपर्ट ने अपनी पुस्तक *जिन्ना ऑफ पाकिस्तान* में लिखा है कि उस प्रथम उक्ति ने ही दोनों के बीच का सम्बन्ध सदा के लिए स्थापित कर दिया—गलतफहमी और गहरे तनाव का सम्बन्ध। सच पूछिए तो प्रतिद्वन्द्विता का सम्बन्ध।

गाँधी के विचार और तौर-तरीके भी जिन्ना के लिए अरुचिकर थे। उनकी और अनेक कांग्रेसियों की वेश-वृषा, विचार जिन्ना को दिखावा प्रतीत होते थे। गाँधी में अपने सहयोगियों और आम लोगों के प्रति भी एक तरह की खुली अधिकार-वृत्ति से भी जिन्ना चिढ़ते थे। गाँधी का भाव ऐसा प्रतीत होता था, मानो उनकी बात सबको माननी ही चाहिए। और जो ऐसा नहीं करता, वह बेचारा भ्रमित और अज्ञानी है। यह मनोवृत्ति किसी भी स्वतन्त्र मस्तिष्क व्यक्ति को अरुचिकर लगती।

साथ ही, गाँधी अपने को महान, त्यागी, निस्पृह आदि मानकर चलते थे। यानी ऐसा श्रेष्ठ, जैसे प्रायः दूसरे लोग नहीं हैं। एक बार जब कई प्रेस फोटोग्राफर जिन्ना और गाँधी को घेरकर तस्वीरें खींच रहे थे, तो गाँधी ने जिन्ना से कहा, “आपको यह अच्छा लगता है, है न?” छूटते ही जिन्ना ने कहा, “उतना नहीं, जितना आपको यह अच्छा लगता है।”<sup>9</sup> सत्यनिष्ठा का तकाजा है कि इस प्रसंग में जिन्ना की बात अधिक सही थी। जिन्ना की तुलना में गाँधी अधिक आत्ममुग्ध रहे थे, यह दोनों के जीवन, विचारों, बयानों और कार्य पर सरसरी नजर डालने से भी दिख जाता है।

गाँधी जी का अपने विचार, शैली और कार्यों पर अप्रतिम विश्वास भी जिन्ना को क्षुब्ध करने वाला था। यह एक कारण रहा होगा कि गाँधी की लोकप्रियता बढ़ने, अपना महत्त्व घटने और काँग्रेस नेताओं द्वारा सत्ता में मुसलमानों को पर्याप्त भागीदारी देने से इनकार के बाद जिन्ना को काँग्रेस से वितृष्णा हो गई। अन्ततः वे निराश होकर वापस लन्दन चले गए और फिर वकालत में लग गए। मगर शायद मन में कोई फाँस और राजनीतिक जीवन-कार्य के अधूरे रहने का अफसोस रहा होगा, जिसके लिए जिन्ना ने लियाकत अली खान का वह प्रस्ताव स्वीकार किया, जिसमें उन्हें अपनी शर्तों पर मुस्लिम लीग का एक छत्र, तानाशाह-सा नेता बनने का आग्रह किया गया था।

वस्तुतः डॉ. भीमराव अम्बेडकर के अनुसार गाँधी और जिन्ना, दोनों ही अधिकार-वृत्ति से ग्रस्त थे, जो “बराबरी का भाव रखने वालों से कतराते थे, और केवल उन्हीं के साथ खुलते थे और व्यवहार रखना पसन्द करते थे जो स्वयं को (विचार-बुद्धि-समझ में) उनसे छोटा मानकर चलते हों”। यह एक म्यान में दो तलवारों जैसी असम्भव स्थिति थी। डॉ. अम्बेडकर ने गाँधी और जिन्ना को भारी अहंकार (‘colossal egotism’) से ग्रस्त व्यक्ति माना था, जिन दोनों ने भारतीय राजनीति को अपने ‘निजी झगड़े’ का विषय बनाकर भारतीय राजनीति की प्रगति को ‘एकदम ठहराव’ की स्थिति में ला दिया।<sup>10</sup>

जिन्ना को कुशल वार्ताकार माना जाता है। अपनी जिद पर अड़ने वाला और समझौते न करने वाला भी। किन्तु यह सब जिन्ना को पाकिस्तान नहीं दिला सकता था, यदि अलगाववादी मानसिकता के साथ एक प्रभावी मुस्लिम समाज उनकी पीठ पर डटकर न खड़ा होता। ध्यान दें कि जिन्ना मुसलमानों के नेता बन ही तभी सके, जब उन्होंने विशुद्ध मजहबी अन्दाज अपनाया। उससे पहले अपने उन्हीं सभी नेतृत्व गुणों के साथ वह मुसलमानों को अपने पीछे नहीं कर सके थे! इस अर्थ में जिन्ना ने मुसलमानों की अगुवाई नहीं की, बल्कि कटिबद्ध मुसलमानों ने उन्हें खींचकर वहाँ ला खड़ा किया, जहाँ से वह कायदे-आजम कहला सके।

जबकि नेहरू के साथ ठीक उल्टा रहा। उन्होंने हिन्दू समाज की पूरी उपेक्षा की, उस पर तमाम किस्म के विदेशी विचार, विजातीय आग्रह, नियम-कानून आदि लादे। मगर उसी जनता ने उन्हें भरपूर सम्मान दिया। इसमें गाँधी जी द्वारा नेहरू को अपना

‘उत्तराधिकारी’ घोषित करने की निर्णायक भूमिका थी। नेहरू गाँधी के प्रिय थे, इसलिए गाँधी-भक्त जनता ने नेहरू को अपना प्रेम दिया।

दूसरी ओर, आधुनिक शिक्षित हिन्दुओं के बीच यूरोपीय, हिन्दू-उदासीनता मानसिकता के वर्चस्व से उनके बीच भी नेहरू को बहुत प्रतिष्ठा मिली। इस रूप में, नेहरू उस आधुनिक हिन्दू उच्च-वर्ग के प्रतिनिधि ही थे, जो यूरोपीय अनुकरण में अपने देश की भाषा, संस्कृति और धर्म से उदासीन हो चुका था। इन दो कारणों से हिन्दू जनता के बीच नेहरू को लोकप्रिय बनने में आसानी रही।

इसके विपरीत जिन्ना को मुस्लिम समाज के बीच लोकप्रियता पाने के लिए अपने सेक्यूलर-यूरोपीय विश्वासों को त्यागना पड़ा और इस्लामी चोला पहनना पड़ा। प्रसिद्ध विद्वान डॉ. अजीज अहमद ने अपनी पुस्तक *स्टडीज इन इस्लामिक कल्चर* में इसे सटीक रूप से व्यक्त किया है, “उन्होंने (जिन्ना ने) मुस्लिम जनता का नहीं, बल्कि मुस्लिम सहमति ने जिन्ना का नेतृत्व किया। उनकी भूमिका एक ईमानदार और साफ दिमाग वाले वकील की थी जो अपने मुवक्किल की इच्छा को बिल्कुल सटीक शब्दों में रख सकता था।”<sup>11</sup>

इसी से यह भी स्पष्ट होता है, पाकिस्तान बना चुकने के बाद वही जिन्ना फिर से अपने ही मुस्लिम समाज के लिए क्यों अप्रासंगिक हो गए। क्योंकि जिन्ना ने पाकिस्तान को उदारवादी, लोकतान्त्रिक, सेक्यूलर गणतन्त्र बनाने की इच्छा व्यक्त की,<sup>12</sup> जिसमें प्रत्येक धर्म, मजहब, फिरके के लोग समान भाव से रहें। यह उस भावना और तर्कों से नितान्त विपरीत था, जिनके आधार पर पाकिस्तान बनाया गया था।

एक अर्थ में, गाँधी, जिन्ना और नेहरू—तीनों ही किसी ग्रीक ट्रेजेडी के पात्र प्रतीत होते हैं। एक में अपने महात्मा होने तथा सबको जीतने, सब कुछ समझने का अहंकार था, जो पूरी तरह विफल साबित हुआ। दूसरे ने अपने मूल विचारों से समझौता कर राजनीतिक दाँव खेला, अलग देश बनवाया। मगर इस तरह जीतकर भी अपने मूल विचारों को स्वयं धराशायी कर दिया। तीसरे की वामपन्थी विचारधारा ने उसे पूरी उम्र छला और अन्ततः उसी धक्के से उसकी मृत्यु हुई, क्योंकि उसकी विचारधारा का बचकानापन जगजाहिर हो जाने के बाद वे अपने ही मित्रों, सहयोगियों के बीच दयनीय लगने लगे थे।

इस संयुक्त ट्रेजेडी का एक निष्कर्ष यह है कि राजनीतिक कार्य और राजदर्शन हल्की चीज नहीं है। इसे करना तो दूर, ठीक से समझने के लिए भी बड़ी गम्भीरता, परिपक्वता की आवश्यकता होती है। जैसा प्लेटो ने कहा था : नवयुवाओं तक को दर्शन पढ़ने के लिए नहीं कहना चाहिए। वर्षों, दशकों तक सामान्य जीवन के विविध श्रम करने और अनुभव के बाद ही उसे समझना आरम्भ किया जा सकता है। वास्तविक राजनीति दर्शन का ही अंग है। इसी रूप में उसे ‘मास्टर साइन्स’ कहा गया था।

हमारे तीनों नायक उसमें फेल रहे थे।

### सन्दर्भ स्रोत:

1. नेहरू के शब्द, "By education I am an Englishman, by views an internationalist, by culture a Muslim, and I am a Hindu only by accident of birth." लाहौर बुलेटिन, 9 जनवरी, 1930 में उद्धृत
2. नीरद सी. चौधरी, द कंटिनेंट ऑफ सर्स (लन्दन, 1965), पृ. 249। नीरद चौधरी ने इसे इस सन्दर्भ में लिखा था, "इस नितान्त निजी तथ्य ने स्वतन्त्र भारत में मुसलमानों की स्थिति निर्धारित करने में निश्चित रूप से भूमिका निभाई है।" हम कह सकते हैं कि भारत के विचित्र किस्म के सेक्यूलरिज्म की रूपरेखा तय करने में भी।
3. नेहरू पूर्णतः ईसाई, मिशनरी, यूरोपीय और रेडिकल-वामपन्थी शिक्षकों-पुस्तकों संस्थानों-संगतियों से पढ़-लिखकर तैयार हुए थे। इसे उनकी अपनी आत्मकथा पढ़कर भी समझा जा सकता है।
4. ए. गोरेव और वी. जिम्यानिन, जवाहरलाल नेहरू (मॉस्को, 1982), पृ. 89-90
5. शाम लाल "द नेहरूवियन लीगेसी", उन्हीं की पुस्तक इंडियन रियलिटीज इन बिट्स एंड पीसेज (नई दिल्ली, 2003), पृ. 98
6. लियोनार्ड मोसले, द लास्ट डेज ऑफ द ब्रिटिश राज, (बम्बई, 1971), पृ. 85।
7. बी. आर. अम्बेडकर, रानाडे, गाँधी एंड जिन्ना (जालन्धर, 1964)
8. यह तो बाद में स्वतन्त्र भारत में हुआ कि नेहरू परिवार की स्थाई सत्ता बनने और उससे लाभ उठाने वाले इतिहासकारों ने नेहरू की महानता उनकी युवावस्था से ही दिखानी शुरू कर दी। कुछ उसी तरह जैसे सोवियत सत्ता पर स्तालिन का एकछत्र अधिकार जम जाने के बाद उसे सन् 1900 से ही लेनिन के साथ या बराबर महान दिखाया जाने लगा, जबकि 1924-25 तक भी रूसी कम्युनिस्ट नेतृत्व में स्तालिन का कोई विशेष स्थान न था। वैसे ही 1945 तक नेहरू की स्थिति अनेक काँग्रेस नेताओं के समकक्ष थी। वह 'गाँधी-नेहरू' वाले नेहरू तब तक नहीं बने थे। सत्ता और बार-बार दुहराव के तर्क से वह बाद में गाँधी के समान, बल्कि कुछ विषयों में उनसे भी अधिक महान बना दिए गए!
9. बी.पी. श्रीवास्तव द्वारा उद्धृत। "ट्रुथ एंड फिक्शन", द पायोनियर दैनिक, नई दिल्ली, 9 जून, 2005
10. बी. आर. अम्बेडकर, रानाडे, गाँधी एंड जिन्ना (जालन्धर, 1964), पृ. 35, III, आदि। अम्बेडकर का सम्पूर्ण आकलन पठनीय और विचारोत्तेजक है।
11. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 276; के. आर. फंडा द्वारा उद्धृत। "ट्रुथ एंड फिक्शन", द पायोनियर दैनिक, नई दिल्ली, 22 अगस्त, 2005
12. उनका 11 अगस्त, 1947 वाले भाषण के अंश जिसे उद्धृत कर और उसकी प्रशंसा कर लालकृष्ण अडवाणी 2005 में मुसीबत में फँसे, जिसके बाद उनके राजनीतिक कैरियर को ग्रहण लग गया।

## ‘बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु’ : वर्तमान में अतीत की घुसपैठ!

---

पांडेय शशिभूषण ‘शीतांशु’\*

बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु!  
पूछेगा सारा गाँव बन्धु!  
यह घाट वही जिस पर हँसकर,  
वह कभी नहाती थी धँसकर  
आँखें रह जाती थीं फँसकर,  
कँपते थे दोनों पाँव बन्धु!  
वह हँसी बहुत-कुछ कहती थी,  
फिर भी अपने में रहती थी,  
सबकी सुनती थी, सहती थी,  
देती थी सबके दाँव बन्धु!

(सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, 23 जनवरी, 1950,  
‘अर्चना’ संकलन में संकलित)

‘बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु’ ‘निराला’ का एक प्रसिद्ध लघु गीत है, जिसे प्रायः एक विफल प्रेम-गीत माना जाता है। कविता का आरम्भ एक आग्रह से होता है, जो अपनी प्रकृति में निषेधात्मक है। आरम्भ में ही कविता में निरूपित स्थल सामने आता है। यह स्थल नदी का, घाट का और गाँव का स्थल है। कविता की आरम्भिक प्रोक्ति में व्यक्त आग्रह ‘तुम—मैं स्थिति’ (You-Me Situation) को उद्घाटित करता है, जो वक्ता

---

\* पाण्डेय शशिभूषण ‘शीतांशु’ (प्रसिद्ध सर्जनात्मक और सैद्धान्तिक आलोचक तथा अद्यतन भाषाविज्ञानी), ‘साईकृपा’ 58, लाल एबेन्यू, डाकघर—रेयॉन एंड सिल्क मिल, अमृतसर-14005 (पंजाब), चलभाष—09878647468

और श्रोता के बीच है। पर कविता का जो अनुभव-संवेद्य वर्ण्य है, वह 'तुम-मैं' से जुड़कर अर्थात् उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष के बीच जो कथ्य-सन्दर्भ उभरता है, वह अन्य पुरुष का है। काल की दृष्टि से यह गीत वर्तमान और अतीत के बीच दोलायित है।

गीत की पहली प्रोक्ति का प्रथम वाक्य जहाँ निषेधात्मक है, वहीं दूसरा वाक्य विधेयात्मक है। पहला वाक्य वर्तमान-कालिक है, तो दूसरा वाक्य आसन्न भविष्य-कालिक। पहला वाक्य कर्म (Act)—परक है, यह 'बाँधने' की विशेष क्रिया सम्पन्न नहीं करने का आग्रह है, जो अपने-आप में कार्यात्मक है, तो दूसरा वाक्य इस कार्य को नहीं सम्पन्न करने के आग्रह का मूल कारण है। इसलिए वह कारणात्मक वाक्य है। आग्रह है कि नदी के इस किनारे पर, इस घाट पर नाव नहीं बाँधो, क्योंकि सारा गाँव मुझसे बहुत-कुछ पूछने चला आएगा और यह पूछना मेरे लिए असह्य होगा। गाँववाले क्या पूछेंगे, यह यहाँ अध्याहृत है, अनुल्लिखित है, पर वह सहज अनुमेय है कि गाँववाले उस बीते सन्दर्भ में बहुत-कुछ पूछेंगे! पर सन्दर्भ क्या है, इसका भी उल्लेख गीत के आरम्भ में नहीं है। हाँ, पहले वाक्य में जो निषेधात्मकता व्यक्त हुई है, उसके मूल में मानो एक लोक-भय का या संकोच का भाव है।

पर प्रश्न है कि इस गीत का आलम्बन कौन है, श्रोता कौन है, जिससे कवि, गीत का 'मैं' यह आग्रह कर रहा है। वस्तुतः यह गीत जिसके क्रिया-कलाप की प्रशंसा है, वह साथ ही जो सम्बोधित 'बन्धु' है, सभी गीत में अनुल्लिखित है, उसका कोई नाम नहीं है। केवल अध्याहृत सर्वनाम 'तुम' ही इसका वाचक है। सर्वनाम प्रायः मुखौटा (Persona) डाले होते हैं। इस सन्दर्भ में इस सम्बोधिनी या श्रोता के मुखौटे (Persona) को उठाने का प्रयास 'निराला'—काव्य के प्रसिद्ध आलोचक राम विलास शर्मा ने किया है, पर जो उन्होंने लिखा है वह घोर असंगत बनकर रह गया है, क्योंकि उनके द्वारा निर्दिष्ट और उद्घाटित आलम्बन की कहीं से भी कोई संगति नहीं बैठ पाती है।

राम विलास जी ने इस 'बन्धु' सम्बोधन के आलम्बन की पहचान करते हुए लिखा है कि "इस गीत में अवैध प्रेम करने वाली नारी पुरुष को सावधान करती है, लोक-लाज का भय दिखलाती है, किन्तु इस बहाने अपनी नाव बाँधने के लिए पुरुष को आमन्त्रित भी करती है।" (निराला की साहित्य-साधना, भाग-2, पेपर बैक संस्करण, पृ. 209) रामविलास जी को लगता है कि इस गीत के वाचक के साथ-साथ नाव पर अवैध प्रेम करने वाली उसकी वह (पूर्व ?) प्रेमिका भी विद्यमान है, जिसके साथ उसका अवैध सम्बन्ध है। वही वाचक पुरुष को सावधान करती है। सम्बोधन उसी की ओर से है। वही वाचिका है। पर इसकी संगति नहीं बैठ पाती है। यहाँ जो उत्तम-मध्यम पुरुष (Person) की 'तुम-मैं' स्थिति (You-me situation) है, उसके तुरन्त बाद कविता का कथ्य अन्य पुरुष स्थिति में आ जाता है—” यह घाट वही जिस



पर हँसकर / वह कभी नहाती थी धँसकर/आँखें रह जाती थीं फँसकर/कँपते थे दोनों पाँव बन्धु!” अब यदि घाट पर स्नान करने वाली नारी कोई और है, अन्य पुरुष (Third person) है, तो नाव पर अवैध प्रेम करने वाली नारी की उपस्थिति गलत हो जाती है। यहाँ कोई एक नारी ही प्रेम का आलम्बन हो सकती है। वस्तुस्थिति यह है कि नाव पर कविता के वाचक और नाविक (पुरुष) के अतिरिक्त और कोई नहीं है, कोई नारी नहीं है। यहाँ दो सम्भावनाएँ हैं। या तो नाव पर वाचक अकेला है। उसके अतिरिक्त केवल नाविक की स्थिति है और वाचक, जो इस प्रेम-प्रसंग का भोक्ता रहा है, वह नाविक से आग्रह करता है कि सामने आ रहे घाट पर वह नौका नहीं लगाए। इसके पीछे उसकी सारी पूर्व स्मृतियों की सक्रियता है। उस प्रेमिका के विषय में लोगों के द्वारा पूछे जाने का भय या कि लोकलज्जा भी है। दूसरी स्थिति कविता के वाचक के नितान्त अकेले होने की है, जहाँ वही नाविक है और वही यात्री भी और ‘बन्धु’ सम्बोधन वह स्वयं अपने मन के लिए कर रहा है। पूरे गीत में नारी एक ही है, जो अतीत की है, पर स्मृति में बसी हुई है। उसकी हँसी की प्रभविष्णुता उसके चित्त पर अब तक छाई हुई है। अतः उसके साथ वर्तमान कालिकता में नाव पर उसकी अवैध प्रेमिका के, किसी नारी के विद्यमान होने की स्थिति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

‘निराला’ ने स्वयं ‘मेरे गीत और मेरी कला’ शीर्षक अपने आलेख में यह स्पष्ट किया था कि कविता का बोध या कि उसका अर्थ-भावन उसके साकल्य (Wholeness) में, उसकी पूर्णता (Totality) में किया जाना चाहिए। पश्चिम में संरचनावादी आलोचना में भी इस ‘साकल्य’ और ‘पूर्णता’ पर बल दिया गया है। इसलिए भी इस गीत के बोल को इसके अगले चरण के सन्दर्भ से काटकर नहीं समझा जा सकता। अतः भावक को इसका सही भावन इस पूरे गीत को आत्मसात् करने के पश्चात् ही सम्भव हो सकता है।

‘गाँव’ शब्द ग्राम का तद्भव रूप है। ग्राम का मूल व्युत्पत्त्यर्थ समूह होता है। समूह के एक जगह रहने-बसने को ही ‘ग्राम’ कहा जाने लगा था। इसलिए गाँव से गाँव के लोगों का आशय लक्ष्यार्थ से लग जाता है। गीत में आगे जो मुख्य क्रिया-व्यापार आए हैं, वे उत्तम पुरुष (Third Person) के स्मरण में बसी एक युवती (वह) के स्नान-बिम्ब से सम्बन्धित है, जो खुले आकाश के तले मुक्त तन-मन नदी के इस घाट पर स्नान किया करती थी। वह प्रसन्न-वदना थी। वह जल में गहरे धँसकर नहाती थी। वह नहाते समय भी हँसती रहती थी। उसके स्नान-व्यापार का यह बिम्ब द्रष्टा की आँखों को बाँध लेता था, वहाँ वह स्थाई तौर पर अंकित हो जाता था। यहीं निराला की एक अन्य कविता का बिम्ब अन्तरपाठीय सम्बन्ध बनाता हुआ उभरता है—‘उतरे जल में अवसन श्यामा/अंकित उर-छवि सुन्दरतर हो’। पर वहाँ प्रशान्त एकान्त है, जबकि प्रस्तुत गीत में एक द्रष्टांगत हलचल है। कवि लिखता है—“यह

घाट वही जिस पर हँसकर/वह कभी नहाती थी धँसकर/आँखें रह जाती थीं फँसकर/कँपते थे दोनों पाँव बन्धु/बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु।”

कवि यहाँ नदी के इस किनारे पर नाव के नहीं बाँधने के उस मूल कारण का, गाँववालों के द्वारा पूछने आने का उल्लेख करता है। वह अपना स्मृति-बिम्ब प्रस्तुत करता है। आचार्य शुक्ल ने इसे ही ‘स्मृत रूप-विधान’ कहा है। भारतीय अलंकारशास्त्रियों ने इसमें ‘स्मरण’ नामक अलंकार भी देखा है। पर यहाँ इस पर स्मृत रूप-विधान के साथ कल्पित रूप-विधान भी जुड़ा हुआ है। इस घाट के साथ नाव पर यात्रा करने वाले की आत्मीय स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं। इन स्मृतियों को वह संवृत नहीं रहने देकर खोलता है। यद्यपि इस खोलने में भी अर्ध-गोपन और गोपन जैसी स्थितियाँ शेष रह जाती हैं। यहाँ जिस घाट पर नाव के बाँधने का निषेध किया जा रहा है, इसी पर वह युवती कभी अतीत काल में जल में धँसकर नहाया करती थी और हँसती रहती थी। वह स्मृति-वदना थी। कवि ने हँसने की क्रिया के उल्लेख-मात्र से उसके अधरोष्ठ, दन्तावली और मुख-मंडल का सौन्दर्य संकेतित-उद्घाटित कर दिया है। ‘धँसकर’ क्रिया के प्रयोग से मानो उसके स्वस्थ, पीन नितम्ब और उसके सौन्दर्य को उद्घाटित कर दिया गया है। ‘फँसकर’ जैसी पूर्वकालिक क्रिया का सीधा सम्बन्ध यहाँ ‘आलम्बन’ से न होकर ‘आश्रय’ से है, युवती से न होकर इस स्नान-दृश्य देखने वाले द्रष्टा से है। पर आँखों के फँसने का मूल हेतु आलम्बन ही है, जो आश्रय में क्रिया को चरितार्थ करता है।

एक बार पुनः कविता की पहली उपप्रेक्ति के दूसरे उपवाक्य की ओर लौटें। यहाँ तक स्मृति-बिम्ब से इतना ही पता चल पाता है कि निषेध का यह आग्रही कभी उस युवती के स्नान-बिम्ब का द्रष्टा था। पर वह सामान्य द्रष्टा न होकर उस युवती से आत्मीय सम्बन्ध रखने वाला विशेष द्रष्टा था। उससे प्रेम करने वाला मुग्ध द्रष्टा था। पर वह उससे जुड़ नहीं पाया। शायद पलायन कर गया। वह उसको अपनाने का साहस नहीं जुटा सका। सम्भव है, वर्ण और वर्ग-वैषम्य इसका कारण रहा हो। सम्भव है, तब भी द्वन्द्व की मनःस्थिति में इस ‘मैं’ के मन में यही भाव उठे हों—‘बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु’। यही उसका अन्तिम निर्णय हुआ हो, क्योंकि उसको अपना लेने पर भी गाँववाले अनेकानेक प्रश्नों से उसे वेधते-छेदते रहते। उनके बीच उसे सामाजिक मान्यता नहीं मिल पाती। यहाँ पुनः एक अन्तरपाठीय सन्दर्भ उभरता है पर यह एक विरोधी सन्दर्भ है। रसखान की कविता में कृष्ण से मिलने के लिए प्रतिबन्धित एक गोपी कृष्ण से नहीं मिलने के पारिवारिक, सामाजिक प्रतिबन्ध और वादे से सहसा अन्तरण कर लेती है और यह स्पष्ट कह देती है—“टेरि कहीं सिंगरे ब्रजलोकनि काल्हि कोऊ कितनो समझैहै/माई री वा मुख की मुस्कानि/सम्हारि न जैहैं न जैहैं न जैहैं — यह युवती कहना चाहती है कि ऐसी स्थिति में वह पारिवारिक, सामाजिक प्रतिबन्ध तोड़ देगी। वहाँ वह स्त्री होकर भी समाज के सारे दबावों को झेलने और दाव लगाने

की शक्ति रखती है और यह साफ कह देती है कि तब मैं उससे मिलने चली जाऊँगी। पर नाव का यह यात्री, स्नान-निरत युवती का प्रेमी अपने अतीत में उसके हँसते हुए मुख-बिम्ब को बलात् विस्मृत कर देता है। वह उसके वशीभूत नहीं हो पाता है और समाज तथा गाँव में नित्य नए ढंग से होने वाली चर्चा और लोकापवाद के कारण वह उस युवती और गाँव दोनों को ही छोड़ जाता है। इस तरह 'बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु' वर्तमान और अतीत दोनों से जुड़ जाता है और इसकी साभिप्रायता दोनों ओर अपनी सार्थकता चरितार्थ करने लगती है।

यहीं यह स्पष्ट होता है कि नाव का यह यात्री नाविक से या कि स्वयं नाविक होने की स्थिति में स्वयं से जो यह आग्रह करता है कि “इस नाव को इस घाट पर गाँव के किनारे मत लगाओ”, ऐसा निर्णय वह अपने अतीत में भी कर चुका है। तब वह अपने जीवन की सरिता में अपने प्रेम की नौका को युवती के नहाने वाले उस घाट पर नहीं बाँध सका था, उससे अपना प्रेम-सम्बन्ध स्थायी नहीं बना सका था, क्योंकि वहाँ सामाजिक वर्गगत और वर्णगत असमानता विद्यमान थी। यह प्रेम वर्णोत्तर या विजातीय था और सम्भवतः मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग के बीच का था। सो यह आग्रह वह अपने जीवन में पहले भी कर चुका है और उसके अनुरूप ही वहाँ से पलायन भी कर चुका है। आज उसकी साम्प्रतिकता में उसे दूसरा भय सता रहा है कि अब लोग उसकी उस भीरुता, उस प्रेम-वंचना के विषय में उससे पूछेंगे, सच्चे प्रेमी उसे कोसेंगे और उसे उस युवती की व्यथा-कथा सुनाएँगे, जिसे वह सहन नहीं कर पाएगा। वह उससे पलायन करके भी कहाँ पलायन कर सका? आज फिर वह नाव को इधर ही ले आया है। उसके मन का मोह या कि प्रेम-तृष्णा इस दिशा में उसे पुनः खींच लाई है। पर अब तक तो वह सब कुछ जागतिक रूप में अतीत-व्यतीत हो चुका है।

गीत का दूसरा बन्द है—“वह हँसी बहुत-कुछ कहती थी, सबकी सुनती थी, सहती थी/ फिर भी अपने में रहती थी/देती थी सबके दाव बन्धु!” कवि ने इस गीत में यहाँ तीन पूर्वकालिक क्रियाओं के प्रयोग किए हैं—हँसकर, धँसकर और फँसकर। इनमें वह केवल एक पूर्वकालिक क्रिया धँसकर की विशेषता को निरूपित करता है। निश्चय ही यह विशेषता युवती के शील से जुड़ी है। उसकी हँसी में आमन्त्रण का भाव तो था, पर उसमें कोई इकहरा संकेत नहीं था। उसमें कई संकेत थे, जिसे ‘बहुत-कुछ’ से द्योतित किया गया है। उस पर लोगों के द्वारा आरोपित टीका-टिप्पणियाँ उत्कर्षमूलक और अपकर्षमूलक—दोनों ही थीं। पर युवती की ‘हँसी’ अनेक संकेतों को उभारने के बाद भी मर्यादित रहती थी। वह कभी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करती थी। वह सबकी टिप्पणियाँ सुन लेती थी, पर किसी का भी उत्तर नहीं देती थी। उसमें गजब की सहनशीलता थी। साथ ही वह सबको अपना-अपना दाव लगाने का अधिकार भी देती थी। इस प्रकार यह कविता नितान्त एकान्तिक प्रेम-कविता नहीं रह जाती है, पर

समाज के वर्गगत और वर्णगत वैषम्य के कारण विफल प्रेम की एक उत्कृष्ट कविता के रूप में भी अनुभूत होने लगती है।

इस प्रेमगीत में 'हँसी' या 'हँसकर' की तो व्याख्या की गई है, पर 'धँसने' और 'फँसने' की व्याख्या नहीं करने के कारण इस गीत-प्रोक्ति में परिणामसूत्र खंडित हो जाता है, क्योंकि 'हँसने', 'धँसने', 'फँसने' का जो तीन बिम्ब-विधान किया गया था उन तीनों में केवल पहले एक की ही व्याख्या करके दो को अध्याहृत रह जाने दिया गया है। इस तरह परिमाणसूत्र टूट जाने से इस गीत में प्रोक्ति-स्तर की अनुमेय विवक्षा सामने आई है। युवती उस स्रोतस्विनी सलिला में धँसकर क्या नहाती थी, बल्कि वह प्रेम की अन्तःसलिता में धँसकर नहाती थी। पर उसका 'आश्रय' इस तीव्रता को नहीं समझ सका और उसे अपनाने के लिए 'हाँ' नहीं कर सका। उस क्रिया के मूल में जो बेजोड़ आकर्षण और आवर्जन था, वह भावक-द्रष्टा के मन में अब तक विद्यमान है। हाँ, उसने इतना अवश्य किया कि जो सात्त्विक अनुभाव उसकी काया में संचरित होने लगा था—'कँपते थे दोनों पाँव बन्धु', उसको उसने नियन्त्रित किया और वह वहाँ से चला गया। समाज के आक्षेपों को सहन करने की शक्ति उस युवती के पास तो थी, पर इस प्रेमी के पास नहीं थी। उसके तत्कालीन वर्तमान के यथार्थ में जो ऐसे आक्षेप होते थे, उसे वह सहन कर लेती थी। पर युवक में अपने प्रति समाज के आक्षेप की यथार्थता को सहने और उससे लड़ने की शक्ति नहीं थी। उस पर दाव लगाने की शक्ति नहीं थी।

कविता का यह वाचक, जो युवती, घाट और गाँव—तीनों को छोड़कर चला गया था, आज अनेक वर्षों बाद वह उसी जल-मार्ग से गुजर रहा है। अब यहाँ स्थल दो हैं। एक तो है भौगोलिक स्थल (Geographical Space), पर दूसरा है मानसिक स्थल (Mental Space) प्रेमी की बड़ी विचित्र स्थिति है। उसने तो उस भौगोलिक स्थल से पलायन किया था, सो वह मूर्त रूप में वहाँ लौटना नहीं चाहता है। पर उसके मानसिक स्थल में यह भौगोलिक स्थल—गाँव और घाट और घाट की वह युवती आज भी विद्यमान है, जिसे वह विस्मृत नहीं कर सका। अब जो वह यह आग्रह करता है कि यहाँ नाव नहीं बाँधो, तो इससे यह सिद्ध हो जाता है कि उसके मानसिक स्थल पर उसके यौवन के घाट पर उसके प्रेम की नौका अब भी पूर्ववत् बँधी-की-बँधी है। यदि तब वह प्रेम-नौका यात्रा नहीं कर सकी, तो यह स्वयं इतने बीते सालों में इसे अपने मानसिक स्थल से निष्कासित भी तो नहीं कर सका। वर्तमान में अतीत की यह घुसपैठ ही इस गीत में निरूपित प्रेम की भौगोलिक और मानसिक विडम्बना है।

## भारत और कज़ाकिस्तान में पर्यावरण की स्थिति तथा सुरक्षा

डॉ. येलेना इ. रुदेको\*

वर्तमान मानव-जाति की सबसे गम्भीर समस्याओं में पर्यावरण एवं पर्यावरण-सुरक्षा की समस्याओं का खास स्थान है। आखिर बहुत से लोगों की समझ में यह बात आई कि उन समस्याओं को बिना सुलझाए किसी भी देश को आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक सफलता नहीं मिल पाएगी। आजकल अनेक व्यक्तियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के आह्वान सुनाई पड़ते हैं कि पर्यावरण से सम्बन्धित प्रश्नों पर उचित ध्यान देना चाहिए। परन्तु इन पर्यावरण मामलों को ठीक प्रकार से निश्चित करने के लिए इनके बारे में बहुत कुछ जानना है ताकि वे लोग जो अपने जीवन या कार्य में इन मामलों से काफी दूर हैं पर्यावरणीय समस्याओं के कारण, सार और निपटारे की कोई जानकारी पा सकें।

लेकिन भारतवासियों को भारत में होती पर्यावरण-स्थिति के बारे में सुनाना या कज़ाक लोगों से इनके देश में होती पर्यावरणीय समस्याओं के बारे में कुछ कहना—यह तो बिल्कुल काफी नहीं है। जैसे भारतीय वैसे कज़ाक लोग “अपनी” व्यवस्थाओं और समस्याओं से थोड़ा परिचित तो हैं इसलिए इन लोगों को भारत एवं कज़ाकिस्तान में पर्यावरण-स्थिति की जानकारी देना चाहिए। तब शायद भारत और कज़ाकिस्तान में होती पर्यावरणीय मामलों तथा सुरक्षा की तुलना करना अच्छा रहेगा!

भारत और कज़ाकिस्तान में पर्यावरण-सुरक्षा की परम्पराएँ (ऐतिहासिक दृष्टि)

पृथ्वी पर रहनेवाली प्रायः सब जातियों की पर्यावरण-सुरक्षा परम्पराएँ सदियों पुरानी हैं। मानव-समाज के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में ये परम्पराएँ इन बातों से सम्बन्धित

---

\*डॉ. येलेना इ. रुदेको, पी-एच.डी. (प्राच्य इतिहास-भारतविद्या), शोध कार्यकर्ता, मध्य और दक्षिण एशिया विभाग, र.ब. सुलैमेनोव नामक प्राच्यविद्या संस्थान, अल्माती, कज़ाकिस्तान

थीं कि लोग स्वयं को प्रकृति का एक भाग मानते थे, गणचिह्न (पशु-पूर्वज) पर भरोसा रखते थे, सभी प्राकृतिक तत्त्वों को जीवित तथा आध्यात्मिक समझते थे।

उदाहरण के लिए, कज़ाक लोगों के पूर्वज—तुर्क लोग—इस बात पर विश्वास करते थे कि “चिंगील” नामक झाड़ी में मृतकों की आत्माएँ रहती हैं, जिसके कारण इन झाड़ियों को काटना मना था। प्राचीन हिन्दू-ईरानी जनजातियाँ जो दोनों भारतीय (आर्य जैसे) और कज़ाक (शक जैसे) लोगों के पूर्वज थे, पहले अपने देवताओं की उपासना विभिन्न पशुओं की शकल से ही करते थे। हिन्दू-ईरानी लोग एक प्रकार के अरने साँड़ (फिर बैल) की, दो कूबड़वाले ऊँट (इन्द्र और वज्रग्न जैसे) की पूजा करते थे। इसके अतिरिक्त आर्य गाय एवं घोड़े की तथा शक घोड़े एवं भैंसे की पूजा करते थे। शक अपना गणचिह्न भेड़िया मानते थे और उकाब या श्येन को सूर्यदेव कहते थे।

मगर जनसंख्या की बढ़ती तथा सभ्यता में उन्नति के साथ लोग प्रकृति पर थोड़ा कम ध्यान देने लगे। काँस्य के युग में ही शकों के सम्भवतः पूर्वज-अन्द्रों लोगों ने, जिनको विद्वान “प्राचीन धातुविद्” कहते हैं—धातु पिघलाने के लिए लकड़ी की जरूरत के कारण उत्तर कज़ाकिस्तान में विस्तृत वनक्षेत्र नष्ट कर लिये। बाद में, लोहे के युग में पश्चिम कज़ाकिस्तान के क्षेत्र पर रहे हुए सर्मत लोगों ने, जिनका प्रमुख धन्धा पशुपालन था, चरागाह बनाने के लिए बहुत-सा जंगल भी काट डाले। अभी तक पश्चिम कज़ाकिस्तान में जंगलों की सख्त कमी है।

विद्वानों का अनुमान है कि हड़प्पा सभ्यता के दौरान में ही उत्तर-पश्चिमी भारत में एक प्रकार का पारिस्थितिक प्रलय घटित हुआ था। किन्तु यह निस्सन्देह है कि हिन्दुस्तान में आर्य जनजातियों के आगे दखल तथा खेतीबारी के उद्देश्य से उनके द्वारा की जाती हुई वन-कटाई ने प्रकृति पर खराब असर भी डाला। सौभाग्यवश ईसा पूर्व की 6ठी शताब्दी में भारत में पैदा हुए जैनमत एवं बुद्धधर्म ने “अहिंसा” नामक अपनी अवधारणा की सहायता से धर्म-दर्शन और ऊँचे स्तर की प्राकृतिक विचारधारा विकसित कर दी थी। ये दोनों धर्म लोगों को यह बात समझाते थे कि संसार में जो जीवित-प्राणी मौजूद हैं—वे सभी मनुष्य के बराबर हैं, क्योंकि मनुष्य के साथ ही मोक्ष और निर्वाण तक पहुँच सकते हैं। बुद्धधर्म के अनुसार किसी प्राणी को जान-बूझकर मारना सख्त मना है और जैनों के लिए किसी प्राणी की अनजान हत्या में भी भारी दोष है।

ईसा से ढाई सौ साल पूर्व महान् सम्राट् अशोक मौर्य जो बौद्ध धर्म के अनुयायी थे यह बात समझते थे कि समाज की जरूरतों को पर्यावरण-सुरक्षा के उपायों के साथ विधायी रूप से संयुक्त करना आवश्यक है। इस प्रश्न से सम्बन्धित उनकी प्रथम लिखित राजाज्ञा में प्रकृति के सभी पहलुओं की रक्षा घोषित की थी। अशोक की इस तथा दूसरी राजाज्ञाओं में अनेक जानवरों (चींटी से लेकर हाथी तक) और पेड़-पौधे (जैसे सन्दल/चन्दन) की सुरक्षा, सुरक्षित उद्यानों की स्थापना, जानवरों के लिए जड़ी-बूटी लगाने तथा उनके इलाज करने के बारे में विशेष अनुच्छेद लिखे गए थे। जंगलों की रक्षा पर खास ध्यान दिया गया था। थोड़े शब्दों में यह कहना है कि अशोक

की राजाज्ञाओं में जो अवधारणा घोषित हुई थी, वह आधुनिक पर्यावरण-सुरक्षा के सिद्धान्तों से मिलती-जुलती है। दिलचस्पी की बात यह भी है कि अशोक के दादा सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य हाथियों तथा उनके रहने के इलाकों की सुरक्षा भी करते थे।

ईसवी सन् के आरम्भ में कज़ाकिस्तान के क्षेत्र पर पर्यावरण-सुरक्षा की स्थिति भी अधिक अच्छी हो गई। उसी समय कज़ाकिस्तान में रहे हुए तुर्क लोग प्रकृति-भक्त थे। ऐतिहासिक अनुसन्धान के अनुसार तुर्क सभ्यता संस्कृति के विश्वकेन्द्रित ढंग पर आधारित थी, जिसका मतलब यह है कि मनुष्य केवल उक्त वातावरण के साथ ही रह सकता है जिसके अन्दर सभी जीवित-प्राणी समान ही हैं। अभी तक कज़ाक लोग कहते हैं : “हर एक वस्तु एवं प्राणी तुम्हारी कार्रवाई के बारे में तुमसे कुछ भी पूछ सकता है।”

दसवीं शताब्दी में जब कज़ाकिस्तान में मुस्लिम धर्म फैला तो वे कुछ विधर्मी तत्त्व नष्ट करने और मनुष्य-केन्द्रित अवधारणा लाने के साथ एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त ले आए जिसके अनुसार मनुष्य ही प्रकृति के कुशल-क्षेम के लिए अल्लाह के सामने उत्तरदायी है। “अल्लाह ने सभी प्राणियों को उचित सन्तुलन में पैदा किया तथा मनुष्य इन प्राणियों का प्रबन्धकर्ता होने पर भी इनका स्वामी नहीं है।” अर्द्ध-आख्यानिक कज़ाक ऋषि असान कायगी उपदेश देता था : “जो जीवित है—इन सभी पर दया करना, सभी का गुण मानना तथा सभी का सम्मान करना चाहिए।” भारत में ब्राह्मणधर्म और दूसरे प्राचीन धर्मों के आधार पर हिन्दूमत बना था, जिसमें पर्यावरण-भक्ति तथा पर्यावरण-सुरक्षा की अवधारणाएँ पैदा हुईं। उदाहरण के लिए, इन अवधारणाओं में उपनिषद् का यह सिद्धान्त है कि ब्रह्मन् (परमतत्त्व) के अन्दर में मनुष्य और प्रकृति में कोई भेद नहीं होता, अतः जब मनुष्य प्रकृति को बरबाद करता है, तब वह अपने-आपको नष्ट करता है। उस समय तक पवित्र जानवरों एवं पेड़-पौधों की प्राचीन पूजा दोनों धार्मिक तथा दार्शनिक रूप में सुदृढ़ बनाई गई थी।

लगभग दसवीं सदी से भारत में जो अरब, अफगान, तुर्क लोग और इनके बाद मुगल आ गए, उन्होंने पर्यावरण-स्थिति तथा हिन्दुओं की पर्यावरण-भक्ति नहीं बिगाड़ी। मुस्लिम सम्राटों का शिकार पहले के हिन्दू सम्राटों के शिकार से ज्यादा बड़े और बुरे नहीं थे। इसके अतिरिक्त याद करना है कि मुगल सम्राट् बबूर लांबर और खास तौर पर जहाँगीर पर्यावरण में रुचि रखकर उसका अध्ययन खुद करते थे।

लेकिन जब भारत और कज़ाकिस्तान उपनिवेश बन गए तो इन दोनों देशों में पर्यावरण-स्थिति फिर से खराब हो गई। तथापि रूसी साम्राज्य में कज़ाकिस्तान शामिल करने के बाद पहले आने वाले रूसी लोग कज़ाकिस्तान में जो करते थे, वह मोटे तौर पर सामरिक महत्व का एवं अनुसन्धान का कार्य था। वे कज़ाक प्रकृति का अन्वेषण करते थे तथा नए शहरों को स्थापित करके वहाँ बहुत से पेड़-पौधे लगाते थे।

इसके विपरीत अँग्रेज़ लोग जहाँ तक भारत में घुसते जाते थे वहाँ तक इस देश के मानवीय एवं प्राकृतिक साधनों का सख्त शोषण करते जाते थे। जाहिर है कि

भारतीय प्रकृति के प्रथम वैज्ञानिक (यूरोपीय दृष्टि से) अनुसन्धान तथा कई सुरक्षित उद्यानों की स्थापना अँग्रेजों ने ही किए। मगर उनका यह अच्छा कार्य उनके बुरे काम की तुलना में समुद्र में एक बूँद जैसा था। कृषिगत कच्चा माल और धन पाने के लिए वे जंगलों को काटते रहते थे, ताकि उनके स्थान पर विभिन्न औद्योगिक एवं नकदी फसलें उगाएँ। इन जंगलों के पुनरुत्थान की बात अँग्रेजों ने नहीं सोची। इन सभी बातों के कारण भारतीय प्रकृति को अपूर्व हानि पहुँचाई गई थी। अँग्रेजों के भीषण शिकार भी उदास दृष्टि से विख्यात हैं। इस तरह जब सन् 1947 में वे लोग भारत छोड़कर गए तो इनके शासन खतम होने के बाद भारत में कुछ उद्यान, भारतीय प्रकृति पर कोई वैज्ञानिक कृतियाँ तथा अधिकारियों द्वारा बनाई गई पर्यावरण-संस्थाओं के साथ-साथ उजाड़ प्रकृति और इतनी बरबाद अर्थ-व्यवस्था रह गई कि इस अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण तथा विकास करने के लिए प्रकृति का आगे विनाश करना पड़ा था।

जहाँ तक कज़ाकिस्तान का सम्बन्ध है तो जब सोवियत संघ पैदा हुआ तथा कज़ाकिस्तान उसके बीसवें साल में उसका एक भाग जनतन्त्र बन गया, तब उसकी पर्यावरण-स्थिति में जैसे नया दौर शुरू हो गया। एक ओर, यद्यपि यह भारत की नाज़ुक हालत में नहीं पड़ा, फिर भी उसकी गम्भीर पर्यावरण-समस्याएँ पैदा हो गईं। इसके सम्बन्ध में सेमिपालातिंडिक परमाणु-क्षेत्र, उत्तर कज़ाकिस्तान में अछूती जमीन का कृषि में लगाना तथा अराल सागर की त्रासदी सबसे उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त, कज़ाकिस्तान पूरे सोवियत संघ के कच्चे माल पाने का एक अच्छा क्षेत्र था, जिसने कज़ाकिस्तान की प्रकृति पर खराब असर डाला। परन्तु दूसरी ओर, कज़ाकिस्तानी पर्यावरण की रक्षा करने के लिए सोवियत सरकार ने महत्वपूर्ण कदम उठाया। सोवियत संघ के बीस सालों के अन्त से जो पर्यावरण-सुरक्षा के कानून अमल में लाए जाते थे, वे कज़ाकिस्तान जनतन्त्र में भी जारी होते थे। उसी समय से स्वीकृत हुए पर्यावरण पत्रों के आधार पर सन् 1962 में विशेष पर्यावरण-कानून पारित हुआ था तथा सन् 1973 के खास पत्र द्वारा वह पर्यावरण-कानून अधिक तीव्र हो गया। इन कानूनों एवं पत्रों को अमल में लाने के लिए विभिन्न संस्थाएँ और सेवाएँ स्थापित की गई थीं। पहले ऐसी संस्थाएँ पूरे सोवियत संघ में थीं तथा 1963 के साल में कज़ाकिस्तान ही में कज़ाक पर्यावरण-सुरक्षा समाज बनाया गया था। कज़ाक सोवियत जनतन्त्र की प्रथम “लाल पुस्तक” सन् 1978 में प्रकाशित हुई थी। कज़ाकिस्तान जब सोवियत संघ का एक भाग था तो वहाँ अधिकतम उद्यान और बाकी सुरक्षित जगहें बनीं। कज़ाक सोवियत जनतन्त्र का पर्यावरण और प्राकृतिक साधन मन्त्रालय सन् 1988 में स्थापित किया गया था (इसके पहले विभिन्न प्राकृतिक प्रश्न भिन्न-भिन्न पर्यावरण विभागों के अधिकार-क्षेत्र में होते थे)। इस तरह हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि कज़ाकिस्तान अपनी आजादी पाने के पहले भी ऐसा देश था, जहाँ पर्यावरण-सुरक्षा के कानूनों एवं कार्यों की एक दृढ़ नींव पड़ी थी।



### स्वतन्त्र भारत और कज़ाकिस्तान की पर्यावरण-समस्याएँ

जब भारत स्वतन्त्र हो गया तो हालाँकि उसके नेता, जिसमें से प्रमुख स्थान श्री जवाहरलाल नेहरू का था, समझते थे कि भारत की पर्यावरण-स्थिति खराब ही है, फिर भी उस समय वे केवल पर्यावरण अपील ही निकाल सकते थे। उद्योग तथा कृषि विकसित करने की ज़रूरत के कारण पर्यावरण प्रश्न को कम ध्यान और पैसे मिलते थे। इसके साथ कृषि एवं उद्योग का तेज़ विकास, जिसका मुख्य उद्देश्य लोगों के अस्तित्व में सुधार तथा आगे विकास के लिए मुनाफा उठाना था, पर्यावरण के लिए लाभदायक तो नहीं हुआ। लेकिन भारतीय इतिहास के उस दौर पर कोई और बात नहीं हो सकती। यदि हम याद करें कि अनेक एशियाई विकासशील देशों में पर्यावरण-सुरक्षा पर कोई ध्यान बिल्कुल नहीं दिया जाता है तथा ऐसी हालत अभी तक जापान में भी थी तो उस दौर में भारतीय पर्यावरण की स्थिति इतनी अजीब नहीं लगेगी।

भारत की “हरित क्रान्ति” ने इस देश में खाने-पीने की चीजें पाने का मामला हल करके इस स्थिति तक पहुँचाया कि एक तरफ़ काफी लोग प्रकृति का अपना सख्त शोषण थोड़ा धीमा कर सके और दूसरी तरफ़ पर्यावरण के मामले हल करने के लिए कुछ ज्यादा पैसे मिले। लेकिन और अधिक फसलें पाने के लिए खेतीबारी में कीटनाशकों का व्यापक इस्तेमाल हो गया। इसके अतिरिक्त तेज़ आर्थिक उन्नति प्रकृति, खास तौर पर जंगलों एवं जल साधनों, के लिए एक दबाव जैसी हो गई। “लगता है कि भारतीय पर्यावरण का ऐसा कोई दूसरा पहलू नहीं है जैसा जंगल जो भारत की 50-वर्षीय स्वतन्त्रता के अरसे में इतने निर्दयतापूर्वक उजाड़ा और नष्ट किया जाता रहा। यह बात मालूम है कि सन् 1951 से 1972 तक 70 प्रतिशत से अधिक वन-क्षेत्र कृषि उद्देश्य से नष्ट हुए हैं तथा 17 प्रतिशत वन-क्षेत्र औद्योगिक प्रतिष्ठानों, बाँधों एवं मार्गों के निर्माण के लिए विनष्ट किया गया था।”<sup>1</sup> कृषि के तेज़ विकास ने मिट्टी के कटाव तक को बढ़ाया। नब्बे सालों से होते निजी क्षेत्र का विकास तथा सरकारी नियन्त्रण का ढीलापन प्राकृतिक दृष्टि से भी प्रतिकूल हो गए।

इसके विपरीत कज़ाकिस्तान के आजादी प्राप्त करने के बाद बाकी पूर्व सोवियत जनतन्त्रों के साथ आर्थिक सम्बन्ध तोड़ने के कारण इस देश में आर्थिक पतन हो गया था। बहुत से औद्योगिक प्रतिष्ठानों की बन्दी के नतीजे से प्रदूषण एकदम घट गया। परन्तु थोड़ी देर बाद यह “नुकसान” पूरा किया गया था। कज़ाकिस्तान के बड़े नगरों में बहुत से आयात की (विलायती) गाड़ियाँ यातायात के लिए लाए गए थीं जिनसे वातावरण का प्रदूषण फिर से बढ़ गया। इसके अतिरिक्त अर्थ-व्यवस्था के ऊपर सरकारी नियन्त्रण के ढीलापन ने भारत जैसे ही प्राकृतिक संसाधनों के अनियन्त्रित उपयोग (जो पूँजी के प्रारम्भिक संचय का एक महत्वपूर्ण स्रोत है) तक पहुँचाया। अनेक स्वदेशी प्रतिष्ठानों तथा प्रायः पूरी आर्थिक शाखाओं का

निजीकरण, विशेष तौर पर विदेशी पूँजीवादियों के द्वारा, जो कजाकिस्तान की पर्यावरण-सुरक्षा से अधिक परेशान नहीं होते हैं, एक बुरी बात भी हो गई। न केवल विदेशी लेकिन स्वदेशी उद्यम-कर्ताओं एवं अधिकारियों की दृष्टि से भी आर्थिक लाभ प्राकृतिक उपयुक्तता से कहीं महत्वपूर्ण है—इसके कारण कुछ “गौण” पर्यावरणीय औपचारिकताओं का पालन इन व्यक्तियों को जरूरी नहीं लगता है।

भारत की विशाल जनसंख्या से प्राकृतिक पहलू और खराब मालूम पड़ता है। इसी दृष्टि से कजाकिस्तान की छोटी जनसंख्या एक अच्छी-सी बात है। उदाहरण के लिए यह बात लेना है कि भारत में जंगलों का कुल क्षेत्रफल देश के क्षेत्रफल से लगभग 21-22 प्रतिशत बनता है। कजाकिस्तान की यही संख्या 5 प्रतिशत से ज्यादा भी नहीं है। हर एक को मालूम है कि भारत कभी वन का देश था तथा कजाकिस्तान—स्टेपी का देश। मगर इन देशों की जनसंख्याओं में होते अन्तर के कारण भारत में जंगलों का प्रति व्यक्ति क्षेत्रफल 0.05-0.07 हेक्टर है और कजाकिस्तान में लगभग 1.4 हेक्टर (तथा विश्व-मानक के अनुसार जंगलों का प्रति व्यक्ति क्षेत्रफल 0.8 हेक्टर ही है)। लेकिन अधोगामी जमीन के क्षेत्रफल दोनों देशों में लगभग बराबर हैं—भारत में करीब 55 प्रतिशत जमीन इसी हाल में है तथा कजाकिस्तान में—66 प्रतिशत।

दोनों देशों के लिए जल-संसाधन की कमी एवं प्रदूषण बड़ी समस्या है। भारत में ताजा पानी का कुल परिमाण प्रायः 1870 घनकिलोमीटर, पानी का वार्षिक व्यय - 10.7 घनकिलोमीटर तथा जल के स्रोतों में प्रदूषकों का दैनिक फेंका जाना—लगभग 2000 टन है। कजाकिस्तान में ताजा पानी का पूरा परिमाण लगभग 520 घनकिलोमीटर (जिससे वास्तविक उपयोग के लिए केवल 108 घनकिलोमीटर सुलभ हैं), पानी का वार्षिक व्यय - 20-25 घनकिलोमीटर तथा जल के स्रोतों में प्रदूषित पानी का फेंकना करीब 5 घनकिलोमीटर प्रतिवर्ष हैं।<sup>2</sup>

जहाँ तक जंगली जीवन की बात है तो यह कहा जा सकता है कि भारत में स्तनपायी जानवरों की 120 जातियाँ तथा पक्षियों की 139 जातियाँ नायाब और लुप्त होने के खतरे में हैं। कजाकिस्तान की लाल पुस्तक के अनुसार इस स्थिति में होते रीढ़ के जानवरों की 126 जातियाँ हैं (उनमें स्तनपायी प्राणियों की 40 से ज्यादा और पक्षियों की 39 जातियाँ हैं)। इसके साथ भारत में रीढ़वाले जीवों की जातियों की कुल संख्या लगभग 20 हजार की है तथा कजाकिस्तान में प्रायः 850 जातियाँ। इस तरह भारत के 2.2 प्रतिशत जातियाँ नायाब और लुप्त होने के खतरे में हैं जब कि कजाकिस्तान में यही संख्या 14 प्रतिशत की है। अतः प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक अन्तर होने के बावजूद भारत और कजाकिस्तान की मूल पर्यावरण-समस्याएँ लगभग बराबर हैं। इन समस्याओं के कारण एवं नतीजे काफी एक तरह के हैं। अब वास्तविक प्रश्न उठता है कि भारत और कजाकिस्तान अपनी इन समस्याओं को किस तरह हल करते हैं?

## भारत और कज़ाकिस्तान के पर्यावरण-कानून

भारत और कज़ाकिस्तान दोनों में हुए घातक प्रकृति-उपयोग के नतीजों से यह स्पष्ट हो गया कि पर्यावरण की सुरक्षा के लिए शीघ्र-से-शीघ्र विशेष वैध कदम उठाना जरूरी है। हर एक को मालूम है कि किसी भी देश के सभी कानूनों का आधार उस देश का संविधान ही है। पर्यावरण के सम्बन्ध में कज़ाकिस्तानी संविधान में यह लिखा गया है कि “राज्य ने मानव के जीवन एवं स्वास्थ्य के लिए अनुकूल पर्यावरण की सुरक्षा को अपना उद्देश्य बनाया है कज़ाकिस्तान के नागरिक प्रकृति-सुरक्षा तथा प्राकृतिक साधनों के साथ सावधान बरताव के लिए जिम्मेदार हैं” (कज़ाकिस्तान का संविधान, धाराएँ 31, 38)। भारतीय संविधान में घोषित किया गया है कि देश के पर्यावरण के संरक्षण तथा संवर्धन का और वन तथा वन्य-जीवों की रक्षा करने का प्रयास करना है, कि भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य-प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्य-जीव है, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणि मात्र के प्रति दयाभाव रखे, अर्थात् जीवित प्राणियों के साथ संवेदनाशील होने (भारत का संविधान, धाराएँ 48-क, 51-क(छ))। इस के सम्बन्ध में यह कहना जरूरी है कि प्राणि मात्र के प्रति दयाभाव रखने की जिम्मेदारी शायद सिर्फ भारतीय संविधान में ही लिखा है।

लेकिन संविधान में जो लिखा है यह तो केवल आधार है, जिसके ऊपर विशेष कानून और अधिनियम बनाना चाहिए। तो सन् 1952 में भारत में पहली बार राष्ट्रीय स्तर पर वन्य-जीव की भारतीय परिषद् स्थापित हुई। उसी साल राष्ट्रीय वन्य कार्यक्रम बना था, क्योंकि जंगल-सुरक्षा का प्रश्न हमेशा बहुत गम्भीर रहा। बाद में कई कार्यक्रम भी बनाए जाते रहे, परन्तु पर्यावरण की एक खास वैध नींव भारत में अभी तक नहीं थी। इसके बावजूद भारतीय प्रतिनिधि शुरू से ही विभिन्न अन्तरराष्ट्रीय पर्यावरण-सम्मेलनों में सक्रिय भाग लेते रहते थे। भारत इन सम्मेलनों द्वारा स्वीकृत पत्रों के अनुसमर्थन करने वाले देशों में से एक था तथा कभी कुछ पत्र बनाने का प्रेरक भी था। 1969 के साल दिल्ली में जो प्रकृति एवं प्राकृतिक साधनों के रखरखाव अन्तरराष्ट्रीय परिषद् का दसवाँ सम्मेलन हुआ था, वह भारत में होती प्रकृति-सुरक्षा में एक नया मोड़ जैसे हो गया। उसी सम्मेलन में स्वीकृत पत्रों की सहायता से देश में शेर का शिकार मना था तथा पर्यावरण-सुरक्षा के मामलों पर ज्यादा ध्यान दिया गया था। सन् 1950 में वन्य-जीव का राष्ट्रीय कार्यक्रम बना था। फिर संयुक्त राष्ट्र संघ का जो स्टाकहोम में मानव-वातावरण सम्मेलन (1972) हुआ था, उसमें स्वयं श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा करके विकासशील देशों के लिए बने हुए पर्यावरण कार्यक्रम को पेश किया<sup>3</sup>। इसके बाद वन्य-जीव की भारतीय परिषद् ने पर्यावरण की एकीभूत वैध नींव स्थापित करने के लिए कुछ सिफारिशें कीं। इन सिफारिशों के आधार पर 9 सितम्बर, 1972 साल को भारत का प्रमुख पर्यावरण-कानून—“वन्य-जीव की सुरक्षा कानून”—स्वीकृत किया था। सन् 1956 में भारत लुप्तप्राय प्रजातियों के

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का अभिसमय; वन्य जीव और वनस्पति की या सी.आई.टी.ई. एस., का सदस्य बन गया, जिसके बाद उस कानून में कई बार संशोधन करना पड़ता था। इन संशोधनों से कानून अधिक कड़ा हो गया। 1991 में इस कानून में वनस्पति-सुरक्षा से सम्बन्धित एक नया अध्याय शामिल किया गया था (इस पर यह कहना है कि उदाहरण के लिए कज़ाकिस्तान में वनस्पति-सुरक्षा का न तो खास कानून है न कोई अध्याय है)।

सन् 1993 के 21 अक्टूबर को कज़ाकिस्तान में “वन्य जीव के सुरक्षा, पुनरुद्धार एवं प्रयोग का कानून” पारित हुआ। इस कानून के कुछ सिद्धान्त उपर्युक्त भारतीय कानून के कई सिद्धान्तों से मिलते-जुलते हैं। मिसाल के लिए दोनों कानूनों में नायाब तथा लुप्त होने के खतरे में होते जानवर कई वर्गों में विभाजित किए गए हैं; उसके अनुरूप सरकारी संस्थाओं की ज़िम्मेदारियाँ बहुत पहलुओं में भी बराबर हैं (अन्तर जो है—उसका कारण दोनों देशों की कुल शासन-व्यवस्था का फर्क है); वन्य जीव के रख-रखाव के लिए कानूनों के आधार पर उठाए जाते कदम भी काफी समान हैं। इसके साथ इन दोनों कानूनों में महत्वपूर्ण भेद भी मौजूद हैं। उदाहरण के लिए कज़ाकिस्तानी कानून में शिकार की कुछ शर्तें लिखी गई हैं, जबकि भारतीय कानून के अनुसार शिकार बिल्कुल मना है; जो व्यक्ति कज़ाकिस्तानी कानून का उल्लंघन करता है, उसको केवल जुर्माने की सज़ा मिलेगी तथा भारतीय कानून के उल्लंघन के लिए व्यक्ति को कैद की सज़ा दी जा सकती है।

सन् 1974 भारत में “जल-प्रदूषण के रोक रखने एवं नियन्त्रण का कानून” तथा 1980 साल में “वन-सुरक्षा का कानून” पारित हुए। सन् 1988 में एक नया राष्ट्रीय वन्य कार्यक्रम बना जो वर्तमान स्थिति के ज्यादा अनुकूल है। इसके अतिरिक्त भारत में 1981 साल में “वायु-प्रदूषण के रोक रखने एवं नियन्त्रण का कानून” स्वीकृत हुआ था। इन और दूसरे कानूनों के आधार पर भारत में विशेष पर्यावरण-रक्षा की राष्ट्रीय संस्थाएँ बनती रहती थीं तथा पहले स्थापित हुई संस्थाओं के कार्य में कई सुधार होते रहते थे। इसी तरह जल-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण आदि के बोर्ड स्थापित हुए थे। सन् 1985 में भारतीय प्रमुख पर्यावरणीय संस्था—पर्यावरण एवं जंगल सुरक्षा का मन्त्रालय बनाया गया।

1988 साल में कज़ाकिस्तान में प्रकृति-सुरक्षा का मन्त्रालय स्थापित हुआ था (पर 1990 तक यह मन्त्रालय नहीं—सिर्फ एक समिति थी), सन् 1991 से इस संस्था का नाम और कई बार बदला, तथा आज-कल आर्थिक संकट और इससे वित्त-न्यूनता की वजह से यह फिर से केवल ऊर्जा मन्त्रालय के भीतर एक तेल और गैस के समुच्चय में परिस्थितिक विनियमन, नियन्त्रण और राष्ट्रीय निरीक्षण समिति है। अभी तक उसकी बनावट यूरोपीय पारिस्थितिक मन्त्रालयों की बनावट जैसी है।

सन् 1989 में भारत में “पर्यावरण-सुरक्षा कानून” पारित हुआ। ऐसा कानून कज़ाकिस्तान में सन् 1997 को पारित हुआ। यह कहना चाहिए कि इन दोनों कानूनों

में बहुत समान बातें होने पर भी भारतीय कानून कज़ाकिस्तानी कानून की तुलना में छोटा लेकिन अधिक कड़ा ही है। 1992 साल में दोनों, भारत और कज़ाकिस्तान, रियो-द-जनेरियो में हुए पर्यावरण और विकास के संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन में भाग ले रहे थे। इन दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने इस सम्मेलन के कई महत्वपूर्ण पत्रों पर अपने हस्ताक्षर किए। इसके अतिरिक्त सन् 1991 में अपनी आज़ादी पाने के बाद कज़ाकिस्तान ने भारत जैसे विभिन्न अंतरराष्ट्रीय पर्यावरणीय पत्रों पर हस्ताक्षर किया। इन पत्रों में ओज़ोन; (ozone) परत सुरक्षा का वियना समझौता, सी.आई.टी.ई.एस. का समझौता, प्रवासी जानवरों की सुरक्षा का बोन समझौता आदि हैं।<sup>4</sup> यह बात उल्लेखनीय है कि सन् 1986 में भारत और सोवियत संघ (जिसका भाग तत्कालीन कज़ाक सोवियत जनतन्त्र था) ने प्रवासी पंछियों की सुरक्षा का दोपक्षीय समझौता भी किया। इस तरह यह कहना सम्भव है कि दोनों भारत और कज़ाकिस्तान अनेक अंतरराष्ट्रीय पर्यावरण-समझौतों के हस्ताक्षर करने वाले देश हैं।

#### भारत और कज़ाकिस्तान के सुरक्षित क्षेत्रों का विधान

इन अन्तरराष्ट्रीय पर्यावरण-समझौतों तथा स्वदेशी अधिनियमों-कानूनों के आधार पर बहुत कुछ पर्यावरणीय कार्य किए जाते हैं। इन कार्यों में से विशेष सुरक्षित क्षेत्रों एवं उद्यानों की स्थापना अति महत्वपूर्ण है। (इस प्रश्न पर ध्यान देने से पहले यह बात स्पष्ट करना चाहिए कि भारत में जो क्षेत्र राष्ट्रीय पार्क माना जाता है, वह कज़ाकिस्तान में उद्यान जैसा होता है तथा कज़ाकिस्तान का राष्ट्रीय पार्क भारतीय उद्यान जैसा होता है; दूसरे शब्दों में कज़ाकिस्तान का सबसे महत्वपूर्ण सुरक्षित क्षेत्र उद्यान ही होता है)।

भारत के सबसे प्रसिद्ध राष्ट्रीय पार्क तथा उद्यान बीसवीं सदी के 50-60वें सालों में स्थापित किए गए थे। लेकिन उस समय उनकी संख्या न्यून थी। जब कि सन् 1972 में “वन्य जीव की सुरक्षा कानून” पारित था, तब देश में प्रायः 135 विशेष सुरक्षित क्षेत्र थे; सन् 1981 में उनकी संख्या 221 तक बढ़ गई। 1982 साल में श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने वन्य जीव की भारतीय परिषद् के सामने “12 मुद्दों की कार्य-योजना” प्रस्तुत की थी, जिसका मुख्य उद्देश्य था वैज्ञानिक रूप से स्थापित और संचालित विशेष सुरक्षित क्षेत्रों का जाल बनाना। सन् 1983 तक ऐसे क्षेत्रों की संख्या 251, सन् 1988 तक - 461, सन् 1992 तक - 489, सन् 1998 तक - 530, सन् 2001 तक - 572, सन् 2011 तक - 661 तथा सन् 2016 तक - 730 तक बढ़ गई (जिनमें से आज-कल 103 राष्ट्रीय पार्क, 535 वन्यजीव अभयारण्य, 66 संरक्षण स्थान और 26 सामुदायिक रक्षित स्थान हैं)। इन विशेष सुरक्षित क्षेत्रों की संख्या आज तक भी बढ़ती जाती रही है। इस तरह ऐसे क्षेत्रों का कुल क्षेत्रफल 160.9 हजार वर्ग किलोमीटर से ज्यादा है यानी देश के पूरे क्षेत्रफल से 4.88 प्रतिशत तथा जंगलों के क्षेत्रफल से 23 प्रतिशत।<sup>5</sup> इसके साथ भारतीय पर्यावरण-प्रतिपालक समझते हैं कि राष्ट्रीय पार्कों की संख्या 148

से कम नहीं होनी चाहिए, ताकि इनका कुल क्षेत्रफल देश के पूरे क्षेत्रफल से 5 प्रतिशत से कम न हो; सभी विशेष सुरक्षित क्षेत्रों की संख्या 1600 तक ही बढ़ानी चाहिए।<sup>6</sup>

सन् 1984 में कज़ाकिस्तान में 7 वन्यजीव अभयारण्य थे, जो 1926 से 1984 तक स्थापित किए गए थे। 1985 साल में कज़ाकिस्तान में प्रथम राष्ट्रीय पार्क बना था। आजकल कज़ाकिस्तान में केवल 10 वन्यजीव अभयारण्य तथा 12 राष्ट्रीय पार्क मौजूद हैं। इनके अतिरिक्त कज़ाकिस्तान में 26 राष्ट्रीय प्रकृति-स्मारक, 3 चिड़ियाघर (भारत में—लगभग 200), 5 वनस्पति-बाग, अन्तरराष्ट्रीय महत्व की 3 दलदल और राष्ट्रीय महत्व के 150 जलाशय तथा अन्य प्रकार के 62 विशेष सुरक्षित क्षेत्र हैं। इस तरह कज़ाकिस्तान में ऐसे सुरक्षित क्षेत्रों की संख्या 270 है, इनका क्षेत्रफल देश के पूरे क्षेत्रफल का 2,38 प्रतिशत बनता है। इसमें वन्यजीव अभयारण्यों एवं राष्ट्रीय पार्कों का क्षेत्रफल—39,900 वर्ग किलोमीटर है यानी देश के पूरे क्षेत्रफल से 1.46 प्रतिशत।<sup>6</sup> कज़ाकिस्तान की सरकारी योजना के अनुसार सन् 2030 तक देश में और 17 वन्यजीव अभयारण्य तथा 15 राष्ट्रीय पार्क तथा 65 प्रकृति-स्मारक बनाना है।<sup>7</sup> कज़ाकिस्तान की जनसंख्या तथा प्राकृतिक विविधता भारतीय जनसंख्या और प्राकृतिक विविधता की तुलना में छोटी होने पर भी कज़ाकिस्तान के विशेष सुरक्षित क्षेत्रों की संख्या अस्वीकरणीय रूप से ही कम है।

विशेष सुरक्षित क्षेत्रों की स्थापना के साथ-साथ वन्य जीव के रख-रखाव के लिए दोनों देश में खास कार्य एवं योजनाएँ अमल में लाते रहते थे। उदाहरण के लिए भारत में 1973 साल से “शेर” नामक अभूतपूर्व परियोजना कार्यान्वित होने लगी जिसमें भारत सरकार के अलावा डब्ल्यू.डब्ल्यू.एफ. भी पूँजी लगाता था। सन् 1972 से “गिर वन” में सिंह की सुरक्षा होती है, सन् 1975 से ओड़िसा में मगरमच्छ की तीन प्रजाति (जिनमें से घड़ियाल भी है) पालते हैं, सन् 1986 से असम में गैंडे का रख-रखाव होता है तथा सन् 1992 से “हाथी” नामक परियोजना जारी है। इसके अतिरिक्त भारत में लंगूर, बर्फी तेन्दुआ, बारहसिंगा, बनैला भैंसा और बाकी जानवर सुरक्षित होते हैं। जानवरों की सुरक्षा के साथ ही उनके रहने के स्थानों (जंगलों, नदियों, घाटियों, झीलों आदि) की सुरक्षा-योजनाएँ भी बनाई जाती हैं जैसे “सरदार सरोवर परियोजना”, “नर्मदा घाटी की परियोजना” इत्यादि।

कई लोग प्राचीन भारतीय रिवाजों-परम्पराओं की आलोचना करते हैं तथा पिछड़े हुए भारतीय कबीलों के नैतिक विकास की जरूरत के बारे में कहते हैं। परन्तु ऐसे कबीले ही वन्यजीव की महत्वपूर्ण और अमूल्य रक्षा करते हैं। उदाहरण के लिए राजस्थान के एक कबीले ने मृग की एक नायाब प्रजाति को अपने संरक्षण में लिया। विश्व-विख्यात चिपको आन्दोलन ने हिमालयी वनों की रक्षा के लिए बहुत कुछ किया। वैसे इन “अविकसित” लोगों के पर्यावरणीय अनुभव का लाभ अनेक विकसित देशों द्वारा उठाया जाता है।

कज़ाकिस्तान के कई उद्यान भी जानवरों के विशेष प्रजातियों की रक्षा के लिए बनाए जाते रहे हैं। इसके सम्बन्ध में दो मिसाल देना चाहिए। पहले, कैस्पियन सागर में स्थित बर्साकेल्मेस द्वीप पर “कुलान” नामक बनैले-गंधों का अभूतपूर्व कृत्रिम जलवायु-अनुकूलन; बाद में वे जानवर इस द्वीप से कज़ाकिस्तान के दूसरे इलाकों में प्रवासित हुए। दूसरे, “सैगाक” नामक मृगों का बचाव। ये नायाब जानवर बिल्कुल नष्ट होने वाले थे, जब सन् 1919 में उनकी सुरक्षा के लिए खास कानून पारित किया गया था तथा सन् 1948 तक उनकी संख्या काफी बड़ी हो गई। उस समय प्रसिद्ध जर्मन प्रकृति-प्रतिपालक ब, ग्रूजीमेक ने सैगाक के इसी बचाव को “कज़ाकिस्तान का चमत्कार” कहा था।

इस तरह, दोनों देशों भारत और कज़ाकिस्तान में पर्यावरण-सुरक्षा के लिए कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाए जाते हैं। दोनों देश एक-दूसरे के अनुभवों से लाभ उठा सकते हैं तथा इस क्षेत्र में आपसी सहयोग का पूरा विकास कर सकते हैं। क्योंकि पर्यावरणीय सहयोग राजनीतिक या आर्थिक सहयोग से कम कभी नहीं होता। प्रकृति एक ही है। यदि हमारे संयुक्त प्रयास के फलस्वरूप हर देश में प्रकृति का एक छोटा-सा हिस्सा भी सुरक्षित हो तो इस बात में हमारा कुल योगदान अमूल्य ही होगा।

#### सन्दर्भ

1. Fadia, B.L. (1997). Indian Government and Politics. Agra: Sahitya Bhavan Pub. P. 849.
2. कज़ाकिस्तान गणतन्त्र का ऊर्जा मन्त्रालय (2015), *कज़ाकिस्तान गणतन्त्र की पर्यावरण-स्थिति का राजकीय प्रतिवेदन*. वेब 9 सितम्बर, 2015, <http://energo.gov.kz/index.php?id=kk2087> (रूसी भाषा में).
3. Sharma, P.D. (2001). Ecology and Environment. Meerut: Rastogi Publications. P. 338.
4. कज़ाकिस्तान गणतन्त्र का पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधन मन्त्रालय (1998), *जैव-विविधता के सुरक्षा तथा बुद्धि-संगत उपयोग का राजकीय विवरण* (रूसी भाषा में), पृ. 88.
5. Wildlife Institute of India, Ministry of Environment & Forests. “Protected Areas of India”. *Protected Areas – Subject Area*. Web. 10 February, 2016, [http://wiienviis.nic.in/Database/Protected\\_Area\\_854.aspx](http://wiienviis.nic.in/Database/Protected_Area_854.aspx).
6. Khati, Anand S. (1998). National Parks of India. New-Delhi (Noida): Pelican Creations Int. P. 56.
7. कज़ाकिस्तान गणतन्त्र का सरकार (2000), *कज़ाकिस्तान गणतन्त्र के विशेष सुरक्षित प्राकृतिक क्षेत्रों सन् 2030 तक के विकास तथा रखने की योजना* (रूसी भाषा में), पृ. 20।

## बैंकों में धोखाधड़ी एवं रोकथाम के उपाय (कौटिल्य अर्थशास्त्र के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ. अनीता जैन\* एवं डॉ. सुधीर जैन\*\*

“Just as it is impossible to know when a swimming fish is drinking water, so it is impossible to find out when a government servant / corporate steward in stealing money.”

• Kautilya's Arthashastra

बैंक किसी भी देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और उन्हें अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी कहते हैं, इसीलिए बैंकों में धोखाधड़ियों की घटनाएँ हमेशा से ही सरकार, समाज, व्यक्ति, नियामक (रेग्युलेटर), कानून बनाने एवं इन्हें लागू करने वालों आदि सभी के लिए एक चिन्ता का विषय रहा है।

प्रश्न उठता है कि धोखाधड़ी, कपट, घोटाले आदि शब्द क्या वर्तमान में ही सुनने/पढ़ने को मिलते हैं या उसका प्रादुर्भाव प्राचीन काल में भी था? ऐसा माना जाता है कि जब से “अर्थ” का इतिहास है, शायद मनुष्य तभी से अनुचित लाभ के लिए कई हथकण्डे अपनाता रहा है। धोखाधड़ी अथवा गबन का उल्लेख हमें महाभारत<sup>1</sup>, मनुस्मृति<sup>2</sup>, कौटिल्य अर्थशास्त्र आदि अनेक ग्रन्थों में भी मिलता है। कौटिल्य ने राजकर्मचारियों के गबन करने के चालीस तरीकों (यथा—थोड़ा देकर भी बहुत लिख देना, बहुत देकर भी थोड़ा लिख देना, राजकर को वसूल न करके रिश्वत लेकर जमा रजिस्टर में चढ़ा देना आदि) का उल्लेख किया है।<sup>3</sup> धोखाधड़ी के तरीकों एवं रोकथाम के उपायों पर विचार करने से पूर्व धोखाधड़ी के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

\*डॉ० अनीता जैन, एसोसिएट प्रोफेसर—संस्कृत, वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली-304022

\*\*डॉ० सुधीर जैन, मुख्य प्रबन्धक, स्टेट, बैंक ऑफ़ बीकानेर एंड जयपुर, कॉमर्सियल शाखा, मुम्बई



### धोखाधड़ी की परिभाषा

साधारण शब्दों में—धोखाधड़ी एक ऐसा कृत्य अथवा अनाचरण है, जिसके द्वारा एक व्यक्ति तथ्यों को छिपाकर अथवा अन्य प्रकार से अनुचित लाभ अर्जित करता है तथा किसी दूसरे व्यक्ति को अनुचित हानि पहुँचाता है।

भारतीय अनुबन्ध अधिनियम, 1872<sup>4</sup> में अमान्य अनुबन्ध (Voidable agreement) के आधार पर जान-बूझकर किए गए मिथ्यावर्णन (Misrepresentation) को कपट की संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार भारतीय दंड संहिता की धारा 25 में धोखाधड़ी के कार्य को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—“किसी व्यक्ति द्वारा कोई कार्य जालसाजी से किया गया माना जाएगा यदि उसने यह कार्य धोखा देने के उद्देश्य से जान-बूझकर किया हो।”

### बैंक धोखाधड़ी की परिभाषा

रिजर्व बैंक द्वारा सन् 1998 में पंजाब एंड सिंध बैंक के तत्कालीन एक्जिक्यूटिव डायरेक्टर श्री बी.डी. नारंग की अध्यक्षता में बैंकों में बड़े गबनों (Large Value Bank Frauds) के लिए गठित कमेटी ने बैंक धोखाधड़ी को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है—“बैंक धोखाधड़ी बैंकिंग लेन-देनों के दौरान किसी भी व्यक्ति द्वारा जान-बूझकर किया गया वह कार्य है, जो अनधिकृत लाभ की आशा से मेन्यूअली अथवा कम्प्यूटर सिस्टम में रखी हुई लेखा बहियों द्वारा अल्पावधि अथवा दीर्घावधि के लिए किया गया हो, चाहे इससे बैंक को मौद्रिक हानि हो अथवा नहीं।”

### धोखाधड़ियों का वर्गीकरण

कौटिल्य ने हेरा-फेरी का वर्णन करते हुए लिखा है कि स्तम्भ दो प्रकार का होता है—आभ्यन्तर एवं बाह्य। अपने ही मुख्य सरकारी कर्मचारियों द्वारा धन का बीच में रोका जाना, गबन व हेरा-फेरी आभ्यन्तर स्तम्भ कहलाता है।<sup>5</sup> जबकि मित्र तथा आटविक अथवा जंगली पुरुषों द्वारा धन का गबन बाह्य स्तम्भ कहलाता है।<sup>6</sup> ये दोनों स्तम्भ मिलकर यदि हेरा-फेरी करते हैं तो कोशसंग कहलाती है।<sup>7</sup>

धोखाधड़ी करने वालों के आधार (Perpetrators of Frauds) पर भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा किए गए वर्गीकरणानुसार आन्तरिक धोखाधड़ियाँ बैंक के स्टाफ द्वारा, बाह्य धोखाधड़ियाँ ग्राहक अथवा बाहरी व्यक्ति द्वारा और अधिकांश धोखाधड़ियाँ स्टाफ की मिली-भगत से ग्राहक एवं बाहरी व्यक्ति द्वारा की जाती हैं।

धोखाधड़ी के प्रमुख कारक

*“On this earth, there is enough for everyone's need but not for their greed”*. महात्मा गाँधी का यह कथन एवं *“ईशावास्यमिदम् सर्वम् यत् किञ्चित् जगत्याम् जगत् । तेन त्यक्तेन भूञ्जिथा मा गृधः कस्यस्विद धनम् ।।”* ईशावास्योपनिषद् का उक्त कथन सिद्ध करते हैं कि लालच के वशीभूत होकर मानव धोखाधड़ी जैसे कृत्यों में प्रवृत्त होता है। कहा भी है कि—*“Greed is a virus that kills the value based systems of civilized society.”* धोखाधड़ी करने के पीछे लालच के अतिरिक्त प्रमुख कारक हैं—मनोवैज्ञानिक जैसे—निराशा, लापरवाही, उदासीनता एवं आक्रोश की भावना। इसके अलावा व्यक्ति की पारिवारिक, शैक्षणिक, धार्मिक एवं सामाजिक वातावरण आदि कारक भी धोखाधड़ी के लिए जिम्मेदार होते हैं।

वर्तमान समय में बैंकों में धोखाधड़ियों को रोकने में कौटिल्य अर्थशास्त्र की उपादेयता

“रोकथाम इलाज से ज्यादा बेहतर है” और “समय पर लगाया हुआ एक टाँका नौ टाँके लगाने से बचाता है।” उक्त अंश धोखाधड़ी रोकने हेतु किए जाने वाले उपायों पर विचार करने के लिए प्रेरित करते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र में उल्लेखित गबन रोकने के उपाय आज भी प्रासंगिक हैं, विशेषकर—कौटिल्य की दंडनीति, आय-व्यय की लेखा-पुस्तकों का समय-समय पर निरीक्षण, सुपरवाईजर की भूमिका आदि। कतिपय उपाय निम्न प्रकार हैं—

*अनुशासनात्मक कार्रवाई (Disciplinary action)*—कौटिल्य का मत है—“अपराधी को कभी भी छोड़ना नहीं चाहिए, चाहे घटना कितनी भी पुरानी हो। प्रमाणित होने पर दंड अवश्य दें तथा कलंकित व्यक्ति को पुनः शासन-सत्ता में सहभागी न बनाएँ।”<sup>8</sup> जो जितना अपराध करे तदनुसार ही उसे दंड दिया जाना चाहिए।<sup>9</sup> यदि कोषाध्यक्ष जान-बूझकर खजाने में से राशि का गबन करता है तो उसे मृत्यु दंड दिया जाना चाहिए एवं जो कर्मचारीगण उसके अधीन काम कर रहे हैं उन्हें उसकी आधी सजा मिलनी चाहिए। लेकिन यदि यह साबित हो जाता है कि कोषाध्यक्ष ने स्वयं खजाने की राशि का गबन नहीं किया है तो उसे उचित चेतावनी दी जानी चाहिए।<sup>10</sup>

इसी प्रकार बैंकों को धोखेबाज के उद्देश्य (Bonafide & Malafide Intention) एवं प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए धोखाधड़ी की घटना का पता लगते ही, गबन करने वाले को अनुशासनात्मक कार्रवाई कर यथोचित दंड देना चाहिए। जाँच एवं अनुशासनिक कार्रवाई तन्त्र ज्ञानी एवं सक्षम अधिकारियों से सुसज्जित होना चाहिए जो इस प्रक्रिया को यथाशीघ्र सम्पादित कर सकें।

**भ्रष्टाचार (Corruption) का उन्मूलन**—आज भ्रष्टाचार जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त है, जो देश एवं समाज को खोखला करता जा रहा है। कौटिल्य कहते हैं कि चोरों को तो कड़ी सुरक्षा-व्यवस्था द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है, परन्तु राजकीय कर्मचारियों द्वारा किए गए गबन का पता लगाना एवं उन्हें रोकना कठिन होता है।<sup>11</sup> कौटिल्य ने राजकर्मियों द्वारा राजकोष के गबन के बारे में उल्लेख किया है कि जिस प्रकार जीभ पर पड़ा मधु अथवा विष का स्वाद लिए बिना रहना असम्भव है, उसी प्रकार कल्याण-कार्य में नियुक्त कर्मचारी के लिए योजना हेतु प्रदत्त धन के एक अंश का स्वाद लिये बिना रह पाना मुश्किल है।<sup>12</sup> कौटिल्य ने कर्मचारियों द्वारा भ्रष्टाचार के बारे में उल्लेख करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार यह जान पाना सम्भव नहीं हो पाता है कि कब तालाब के जल में तैरती मछलियाँ पानी पी रही हैं और कब नहीं, उसी प्रकार राजकीय कार्य में लगाए गए कर्मचारी के बारे में यह पता लगा पाना मुश्किल होता है कि वह कब धन हड़प रहा है।<sup>13</sup> आकाश में उड़ते-विचरते पक्षियों की गति को समझना कि वे किस दिशा में विचरण करेंगे सम्भव है, किन्तु राजकाज में नियुक्त व्यक्ति के मन में छिपे भावों का पता लगाना सम्भव नहीं है।<sup>14</sup>

बैंकिंग का कार्य भी कर्मचारियों की निष्ठा पर टिका है। लेकिन मौका पाते ही नैतिक मूल्यों के पतन के कारण कुछेक कर्मचारी लालचवश बैंक अथवा ग्राहक के धन का गबन कर बैठता है। बैंकों में आन्तरिक धोखाधड़ी हेतु स्टाफ द्वारा जो कार्यविधि अपनाई है उसमें मुख्यतया (i) हेर-फेर करना, जैसे—शेष राशि में परिवर्तन करना, समाशोधन चेकों को नष्ट करना आदि, (ii) दुर्विनियोजन एवं विश्वास भंग (Misappropriation and Criminal Breach of Trust), जैसे—ग्राहक द्वारा जमा करवाई जानी वाली राशि को अपने खाते में जमा कर लेना या ग्राहक के खातों में जमा ही नहीं करना, केश रेमीटेन्स में राशि का बीच में ही गायब कर लेना या उसको कोशागार (Chest) में नहीं रखना आदि, (iii) धोखेबाजी (Cheating)—फर्जी नामों पर ऋण मंजूर करना, ऋण मंजूर करते समय कदाचार (Malpractices), अपने पद का दुरुपयोग करते हुए अनैतिक कार्यों के लिए ऋण प्रदान करना आदि एवं (iv) जालसाजी (Forgery)—खाता धारकों के फर्जी हस्ताक्षर करके खाते से कपट पूर्ण राशि निकालना, उचित राशि की प्राप्ति के बिना कपटपूर्ण तरीके से माँग ड्राफ्ट जारी करना आदि रहा है। कम्प्यूटर सिस्टम के द्वारा भी बैंक के कर्मचारियों द्वारा धोखाधड़ी के मामले प्रकाश में आए हैं, जिसमें उन्होंने बैंक के आन्तरिक खातों, अप्रचलित खातों आदि का दुरुपयोग अपने हित में किया है।

कौटिल्य ने भ्रष्टाचार के घातक परिणाम को दृष्टिगत रखते हुए भ्रष्टाचार उन्मूलन तथा भ्रष्टाचारियों के लिए दंड प्रावधान आदि के विषय में व्यापक उल्लेख किया है। उनका मत है कि सर्वोच्च शासन वर्ग के कर्तव्यनिष्ठ होने पर भी सभी

अधीनस्थ स्वयमेव कर्तव्यनिष्ठ हो जाते हैं।<sup>15</sup> यथोक्त उपाय बैंकों में कपट रोकने के लिए आज भी प्रासंगिक है।

**गबन की वसूली (Recovery) :** धोखाधड़ियों में संलिप्त राशि की वसूली करना बैंकों के लिए मुख्य चिन्ता का विषय है। कौटिल्य का मत है कि यदि कोई कर्मचारी राजकीय धन का गबन करता था तो यह आरोप सिद्ध होने पर गबन की वसूली उसकी सम्पत्ति से की जाती थी। यदि वह गबन की राशि वापस करने में असमर्थ हो तो यह राशि उसके हिस्सेदार, अधीनस्थ कर्मचारी, पुत्र, भाई आदि से वसूल की जाती थी।<sup>16</sup> ऐसा अनुमान है कि बैंक घोटालों में संलिप्त कुल राशि का लगभग 20 प्रतिशत ही वसूल कर पाते हैं। यदि ग्राहक को धोखाधड़ी के कारण कोई नुकसान हुआ है तो उसकी क्षतिपूर्ति बैंक के उच्च अधिकारियों से स्वीकृति लेकर, करनी चाहिए, ताकि बैंक की साख को धक्का न लगे। ऐसा करने से पूर्व यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि कहीं ग्राहक तो इस धोखाधड़ी में संलिप्त नहीं है। यदि यह सिद्ध हो जाता है कि किसी कर्मचारी ने राशि का गबन किया है तो उसको मिलने वाले परिलाभों से वसूली की जानी चाहिए।

(Source : Data has been collected from Public Sector Banks under RTI Act for the year 2005-06 to 2007-08)

उचित प्रोत्साहन व्यवस्था—कौटिल्य के अनुसार यदि कोई निष्पक्ष, राष्ट्रभक्त व्यक्ति किसी गबन की सूचना देता है तो अपराध सिद्ध होने पर गबन किए गए धन का छठा हिस्सा सूचनादाता को पुरस्कार स्वरूप दिया जाना चाहिए। यदि सूचनादाता राजकीय कर्मचारी है तो उसे बारहवाँ हिस्सा दिया जाना चाहिए। यदि अभियोग बहुत से धन का है, परन्तु वसूली कुछ ही धन की है तो सूचनादाता को प्राप्त धन में से हिस्सा दिया जाए।<sup>17</sup> कौटिल्य अर्थशास्त्र यह भी कहता है जो शासकीय धन नहीं हड़पते बल्कि उचित विधि से उसकी वृद्धि करते हैं, राजा के हित में लगे रहने वाले ऐसे राज्यकर्मियों को अधिकार सम्पन्न पदों पर नियुक्त किया जाना चाहिये।<sup>18</sup>

बैंकों में भी जो व्यक्ति धोखाधड़ी होने से बचाता है या जो धोखेबाजों की सूचना प्रदान करता है, उसे उचित प्रोत्साहन देना चाहिए। इसके लिए प्रत्येक बैंक को सतर्कता अवार्ड योजना (Alertness Award Scheme) या उचित **Whistle Blower Policy** बनानी चाहिए। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रत्येक नागरिक अपनी साधारण कपड़ों में भी पुलिसकर्मी है।

**कुशल मानव संसाधन प्रबन्धन (Efficient Human Resource Management)**—कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार राजकीय उच्चपदस्थ कर्मचारियों

को योग्यता एवं कार्यक्षमता के आधार पर ही उन्हें भिन्न-भिन्न पदों पर नियुक्त किया जाना चाहिए। उपयुक्त पदों पर नियुक्त किए जाने के अनन्तर समय-समय पर राजा उनके चाल-चलन की निगरानी करता रहे, क्योंकि मनुष्यों की चित्तवृत्तियाँ सदा एक जैसी नहीं रहतीं।<sup>19</sup> कौटिल्य का मत था—जो पदाधिकारी आदिष्ट कार्य को पूरा करके, स्वेच्छया किसी अन्य के हित के लिए कार्य करता है, उसे तरक्की और सम्मान दिया जाना चाहिए।<sup>20</sup> “राजा का कर्तव्य है कि वह गबन करने वाले कर्मचारी की सम्पदा छीन ले और उन्हें निम्नतर पदों पर अवनत कर दे, ताकि वे राजकीय कोष का गबन न कर पावें।”<sup>21</sup> बैंकों में उचित व्यक्ति को उचित स्थान पर लगाया जाना धोखाधड़ियों को रोकने में एक प्रमुख कारगर उपाय है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में यह भी उल्लिखित है कि किसी भी उच्च अधिकारी को एक ही विभाग में सदा बने रहने से रोकना चाहिए।<sup>22</sup>

बैंकों में यह भी देखने में आया है कि कई बार वही कर्मचारी गबन करता है, जो एक ही शाखा या विभाग में कई वर्षों से कार्य कर रहा है और सभी का विश्वासपात्र बन जाता है। इसलिए कर्मचारियों का हर छह माह बाद जॉब रोटेट कर देना चाहिए और निश्चित अन्तराल के बाद उस विभाग अथवा शाखा से हस्तान्तरण कर देना चाहिए। धोखेबाज कर्मचारी को ऐसे कार्यों में लगाया जाए, जहाँ उसका सम्पर्क धन के कार्यों से न हो।

*आन्तरिक एवं बाहरी अंकेक्षण को मजबूत बनाना*—कौटिल्य अर्थशास्त्र में उल्लेख मिलता है कि सभी कार्यालयों के अध्यक्ष (विभिन्न जिलों के एकाउंटेंट्स) आषाढ़ के महीने में वर्ष की समाप्ति पर प्रधान कार्यालय में आकर हिसाब का मिलान करें।<sup>23</sup> बैंकों को चाहिए कि निरीक्षण अधिकारी एक योग्य, निपुण एवं सक्षम होना चाहिए, निरीक्षण से सम्बन्धित सभी दिशा-निर्देश एवं पॉलिसी लिखित एवं स्पष्ट होने चाहिए। अंकेक्षकों को उनके कार्यों के लिए उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए।

*कानून बनाना एवं उन्हें सख्ती से लागू करना*—कौटिल्य ने राज्य के धन अपहरण एवं अल्प अपराध के लिए भी प्राणदंड देना निर्धारित किया था।<sup>24</sup> केवल कानून बनाना ही काफी नहीं है, उसे लागू करने वाली एजेन्सियों को भी इसका सख्ती से पालन करना होगा। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने सही कहा था—“संविधान चाहे कितना भी अच्छा क्यों ना हो, उसे लागू करने वाले लोग खराब निकले तो संविधान भी खराब सिद्ध होगा।” पुलिस एवं सी.बी.आई. संस्थानों में धोखाधड़ी निवारण प्रकोष्ठ का अलग से गठन किया जाना चाहिए, जिसमें विशेषज्ञों की भर्ती की जाए या उनकी सेवा ली जाए ताकि धोखाधड़ी के मामलों को यथाशीघ्र निपटाया जा सके, क्योंकि “Justice delay, justice denies”. न्यायपालिका का समाज के प्रति उत्तरदायित्व निर्धारित किया जाना चाहिए ताकि न्यायिक प्रक्रिया को यथाशीघ्र पूरा किया जा सके।

गवाहों की सुरक्षा के लिए कानून बनना चाहिए, ताकि गवाहों को सुरक्षित व निर्भय होकर अपनी बात रखने में परहेज न हो। बैंकों को आवश्यक कानूनी अधिकार प्रदान किया जाकर न्यायपालिका अपना काम हल्का कर सकती है।

संक्षेप में, यदि बैंकों में धोखाधड़ी की घटनाओं को रोकने के उपाय पहले ही कर लिए जाएँ तो ऐसी घटनाओं पर रोक लगाई जा सकती है, बशर्ते कि व्यक्ति अपने विवेक का प्रयोग करते हुए बैंक की विद्यमान कार्य-प्रणालियों एवं पद्धतियों (Systems and Procedures) और बैंक द्वारा समय-समय पर जारी दिशा-निर्देशों की पालना में कोई लापरवाही नहीं करते। बैंकों को बदलते हुए परिवेश में एक सुदृढ़, सुव्यवस्थित, सुविचारित एवं प्रभावी नियन्त्रण/पर्यवेक्षण प्रणाली का विकास करना चाहिए एवं उनकी पालना सुनिश्चित करनी चाहिए, ताकि धोखाधड़ियों की गतिविधियों पर अंकुश लगाया जा सके। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बैंकों में धोखाधड़ी रोकना अकेले बैंकों का काम नहीं है। धोखेबाजों से सावधान रहने के लिए हम सबको मिलकर लड़ाई लड़नी होगी अर्थात् पुलिस, सरकार, न्यायपालिका, व्यावसायिक संगठन, विभिन्न सरकारी विभाग, आम जनता, चुने हुए प्रतिनिधि आदि। अन्तरराष्ट्रीय समुदाय भी इस लड़ाई में शामिल हैं।

अतः जानकारी, सजगता और लगातार सतर्कता से ही बैंकों में धोखाधड़ी की घटनाओं को कम किया जा सकता है। योगसूत्र<sup>25</sup> में कहा है—

“हेयम् दुःखम् अनागतम्।”

(Avoid the danger that is yet to come:)

### सन्दर्भ-सूची

1. “कच्चिदार्यो विशुद्धात्मा क्षारितश्चौरकर्मणि ।  
अदृष्टशास्त्रकुशलैर्न लोभाद् बध्यते शुचिः ॥” —महाभारत—सभापर्व, 5/104
2. (i) “योगाधनमविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् ।  
यत्र वाप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥ —मनु स्मृतिः 8/165  
(ii) धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च ।  
प्रयुक्तं साध्येदर्थं पंचमेन बलेन च ॥ —मनु स्मृतिः 8/49
3. तेषां हरणोपायाश्चत्वारिंशत् ... भाजनविषम इति हरणोपायाः । कौ. अर्थ. — 2/8/12
4. व्यापारिक सन्नियम—आर.पी. माहेश्वरी एवं एस.एन. माहेश्वरी प्रकाशक मयूर पेपरबैक, नोएडा। पेज 74-75
5. आभ्यन्तरो मुख्यस्तम्भः । कौ0 अ0 -- (8/4/29)
6. बाह्यो मित्राटवीस्तम्भः । कौ0 अ0 -- (8-130/32-4)

7. ताभ्यांपीडनैर्यथोक्तैश्च पीडितः सक्तो मुख्येषु परिहारोपहतः प्रकीर्णो मिथ्यासंहतः  
सामन्ताटवीहृत इति कोशसंगः । कौ० अ० -- (8/4/30)
8. नास्त्यपकारिणो मोक्ष इति कौटिल्यः । -- कौ० अ० - 29.19.31
9. तेषमानुपूर्व्या ... यथा पराधमिति कौटिल्यः । -- कौ. अ. -- 2.23.7.1
10. कोशाधिष्ठितस्य कोशावच्छेदे घातः । तद्वैयावृत्यकारणामर्धदण्डः ।। परिभाषणमविज्ञाते  
॥ -- कौ. अ., 2.21.5.5
11. सुव्यावर्त्या श्रेणी ... पीडयतीति । -- कौ०अ० 8.4.130-132.1
12. यथा ह्यनास्वादयितुं न शक्यं जिह्वातलस्थं मधु वा विषं वा ।  
अर्थस्तथा ह्यर्थचरेण राज्ञः स्वलोऽप्यनास्वादयितुं न शक्यः ।। --कौ.अ. 2.25.9.3
13. मत्स्या यथान्तःसलिले चरन्तो ज्ञातुं न शक्याः सलिलं पिबन्तः ।  
युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ता ज्ञातुं न शक्या धनमाददानाः ।।--कौ.अ., 2.25.9.4
14. अपि शक्या गतिर्ज्ञातुं पततां खे पतत्रिणाम् ।  
न तु प्रच्छन्नभावानां युक्तानां चरतां गतिः ।। -- कौ. अ., 2.25.9.5
15. कौ. अ., 1.19.1-5
16. वही 2.7.5
17. कौ. अ. -- 2.24.8.1
18. न भक्षयन्ति ये त्वर्थान् न्यायतो वर्धयन्ति च । नित्याधिकाराः कार्यास्ते राज्ञः  
प्रियहिते रताः ।। -- कौ. अ., 2.25.9.7
19. अमात्यसम्पदोपेताः सर्वाध्यक्षाः शक्तितः कर्मसु नियोज्याः ।  
कर्मसु चैषां नित्यं परीक्षां कारयेत् ।। -- कौ. अ., 2/25/9/1
20. कौ. अ. -- 2.9.36
21. आस्रावयेच्चोपचितान् विपर्यस्येच्च कर्मसु ।  
यथा न भक्षयन्त्यर्थं भक्षितं निर्वमन्ति वा ।। -- कौ. अ., 2.25.9.6
22. बहुमुख्यमनित्यं चाधिकरणं स्थापयेत् । कौ.अ., 2.25.9.2
23. गाणनिक्यान्यान्याषाढीमागच्छेयुः । कौ.अ. 2/23/7/2
24. आदशपणमूल्या दिति वधः ।। --- कौ.अ. 1/4/62
25. योगसूत्र (2-16)

## समर्थ और समृद्ध भारत हेतु मूल्य आधारित शासन और प्रशासन की अवधारणा

मनोज कुमार अम्बष्ट\*

प्रजासुखे सुखम् राज्ञः प्रजानाम् च हिते हितम् ।

नात्सप्रिय हितम् राज्ञः प्रजानाम् तु प्रियम् हितम् ।

— अर्थशास्त्र 1.19.34

सृष्टि के रचयिता ब्रह्माजी के कमंडल से निस्सृत गंगा, महादेव के जटा में ठहरकर भगीरथ की तपस्या के प्रतिफल में अपने पावन रूप में धरती पर उनके पूर्वजों और राजा सगर के साठ हजार पुत्रों के तारणहार के रूप में उतरी तो मानवों का भी कल्याण हुआ। पर, मानव ही उसमें अपशिष्ट प्रवाहित कर उससे पवित्रता की कामना रखे तो उसके लिए अपशिष्टों के प्रवाह को रोकना और उसे स्वच्छ भी करना होगा। आज समाज लोगों के स्वार्थ, भ्रष्टाचार और दुराचरण से पतित हो गया है, पर व्यक्तिगत अपेक्षा निज हित में उसके पावन होने की है। अच्छा और बुरा, उचित और अनुचित, नैतिक और अनैतिक जैसे सापेक्षिक शब्दों के अर्थ कभी-कभी देश, काल, परिस्थिति और उद्देश्य के अनुसार परिवर्तित भी होते हैं। फिर भी, उनका निर्णय समग्र हित में ही लिया जाता है, व्यक्तिगत हित में नहीं। शासन का स्वरूप चाहे जो भी हो, यदि उसमें लोकहित और जनहित समाहित न हो तो राष्ट्र के विकास की गति कभी भी अवरुद्ध हो सकती है। ‘बहुजन हिताय बहुजन सुखाय’ संग उच्च नैतिक मूल्यों ओर उदात्त भावनाओं को समाहित कर शासन और प्रशासन का सफल प्रयास ही एक समर्थ और समृद्ध भारत का निर्माण कर सकता है।

\* मनोज कुमार अम्बष्ट, फ्लैट सं. — 204, रीना रेसिडेन्सी, रोड नं.—23, पार्क सं. 2 के पीछे,  
श्रीकृष्ण नगर, पटना-800001, चलभाष - 9430200800,  
अणु डाक : mkambashta@gmail.com



## शासन और प्रशासन

किसी भी औपचारिक अथवा अनौपचारिक संरचना में निर्णय लेने तथा उन्हें कार्यान्वित करवाने की प्रक्रिया ही शासन कहलाती है। यदि प्रजातन्त्र के परिप्रेक्ष्य में शासन की चर्चा की जाए तो सरकार उसका अभिन्न अंग होती है तथा अन्य की भूमिका उस शासन की सीमा अथवा स्तर पर निर्भर करती है। सुशासन हेतु सहभागिता, बहुजनसम्मति, उत्तरदायित्व, पारदर्शिता, अनुक्रियात्मकता, प्रभावोत्पादकता एवं दक्षता, न्यायोचित एवं समावेशी तथा विधि-सम्मत शासन का अनुगामी जैसे आठ प्रमुख तत्त्व आवश्यक हैं। शासन भ्रष्टाचार को न्यूनतम करने के लिए भी आश्वस्त करता है तथा समाज के वर्तमान एवं भविष्य सम्बन्धी आवश्यकताओं और कर्तव्यों के प्रति भी उत्तरदायी होता है। राज्य अथवा संस्था के शासन और परिचालन सम्बन्धी नीतियों को कार्यान्वित करना, प्रबन्ध करना या मूर्त रूप देना ही प्रशासन है। प्रजातन्त्र में शासन सरकार के रूप में राजनेताओं के अधीन है और प्रशासन अधिकारियों के हाथ में।

## दक्षता और मूल्य

किसी भी कार्य के कम लागत और त्वरित निष्पादन हेतु दक्षता की आवश्यकता होती है। दक्षता समाज में हर जगह तेजी से बढ़ रही है। सामाजिक विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान के समीप आने अथवा संभवतः अनुकरण के प्रयास में हमने मूल्य आयाम को अनदेखी करने का प्रयास किया है, क्योंकि प्राकृतिक विज्ञान प्रायः मूल्यरहित होने का दावा करता है। यदि सामाजिक विज्ञान को विज्ञान बनाना है तो उसे प्राकृतिक विज्ञान का अनुसरण करना चाहिए और इसलिए मूल्य-रहित होना चाहिए। सम्भवतः यहीं पर मौलिक त्रुटि रह गई है। महाभारत में द्रोणाचार्य ने विद्योपरान्त युद्ध कौशल में सर्वश्रेष्ठ शिष्य के पुरस्कारस्वरूप अर्जुन को ब्रह्मास्त्र प्रदान किया, पर अश्वत्थामा के जिद पर अनासक्त गुरु के अन्तः को भावुक पिता ने अपदस्थ कर पुत्र मोह में उसे भी दे दिया। महाभारत के अन्त में अश्वत्थामा ने शत्रु के निर्मूलन हेतु उसे उत्तरा के गर्भस्थ शिशु पर छोड़ दिया। इस अनर्थ से सीख लेने की आवश्यकता है। महाभारत काल से आज तक यह समस्या समाज के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त है, जिसके मूल में 'मूल्य-रहित दक्षता' है।

## मूल्य दरार, अधोमूल्य और मानवीय मूल्य

समाज के उच्च वर्ग द्वारा भ्रष्टाचार चिन्ता का विषय है और मूल्य दरार है। यूनानी त्रासद का नायक सर्वगुण-सम्पन्न होते हुए भी अपने किसी अवगुण के कारण उसी प्रकार पतित होता था जैसे नौका का एक छोटा छिद्र पूरी नौका को डुबो देता है। तीक्ष्ण दक्षता के विकृत अनुप्रयोग से घोटाले हो जाते हैं, जो किसी बहुत बुद्धिमान के मस्तिष्क की ही उपज होती है, क्योंकि मूल्य दरार से ही दक्षता के अनुप्रयोग में विकृति आती है। ईर्ष्या, द्वेष, अहं, स्वार्थ, अत्यधिक लालच, अति महत्वाकांक्षा, अधीरता जैसे गुण

अधो-मूल्य कहे जा सकते हैं। साध्य के दौड़ में उचित साधन को भूलना मूल्य-रहित मानसिकता का परिचायक है। फरवरी 2015 में भारत सरकार के पेट्रोलियम मन्त्रालय में उजागर जासूसी, पेट्रोलियम कम्पनियों और चन्द सरकारी कर्मचारियों के इसी मानसिकता का ज्वलन्त उदाहरण है। मानवीय मूल्य वे उदात्त भावनाएँ हैं, सकारात्मक प्रेरणाएँ हैं अथवा मूल्य समूह हैं, जो मानव को बेहतर मानव बनाती हैं। कृतज्ञता, विनम्रता, सन्तुष्टि, निष्कपटता, सद्भाव, धैर्य, सहिष्णुता, तदनुभूति, ईमानदारी जैसे गुण मानवीय मूल्य के अन्तर्गत आते हैं। युधिष्ठिर ने यक्ष के एक प्रश्न के उत्तर में सन्तुष्टि को ही अपना सर्वश्रेष्ठ धन बतलाया था। आज समाज में प्रखर बुद्धिवृत्ति और भ्रष्ट हृदयवृत्ति वाले लोगों की संख्या बढ़ रही है, जो घातक है। अतः हमें प्राचीन भारतीय विचारधारा में वर्णित चित्त शुद्धि, अन्तःशुद्धि को स्वीकारते हुए पवित्र हृदयवृत्ति के साथ दक्ष बुद्धिवृत्ति को अपनाना होगा, क्योंकि साधन और प्रणाली के लिए बुद्धि की तीक्ष्ण दृष्टि उसके परिणाम और मूल्य को देखने के लिए मुँद जाती है।

#### भ्रष्टाचार और मूल्यों का अभाव

भ्रष्टाचार ऊपर से नीचे की ओर जाता है, नीचे से ऊपर की ओर नहीं। यदि उच्च पदासीन व्यक्ति भ्रष्ट हो तो उसके अधीनस्थ भ्रष्टाचार में बेखौफ हो जाते हैं। ट्रान्सपरेन्सी इंटरनेशनल द्वारा 175 देशों के लिए जारी भ्रष्टाचार बोध सूचकांक में भारत 85वें स्थान पर है। सन् 2014 में केन्द्रीय सतर्कता आयोग को भ्रष्टाचार की 63288 शिकायतें मिलीं जो कि 2013 में प्राप्त 35332 शिकायतों से 79% ज्यादा है। दिसम्बर 2014 में जी न्यूज के अनुसार देश में चिकित्सकों द्वारा किए जाने वाले शल्य क्रियाओं में लगभग 45% अनावश्यक होते हैं। सरकारी अस्पतालों में मरीजों को वहाँ निःशुल्क उपलब्ध जेनेरिक दवाओं के स्थान पर प्रायः बाहर में उपलब्ध महँगी दवाएँ लिखी जाती हैं। ऐसी घटनाएँ कमोवेश समाज के हर क्षेत्र में हो रही हैं। ऊँचे स्तर पर नेताओं का भ्रष्टाचार होता है और उसकी छाया में अधिकारी भ्रष्ट हो जाते हैं। कौटिल्य ने शास्त्रज्ञाता और पवित्र आचरण वाले को ही मन्त्री पद पर नियुक्त करने की बात कही है। समाजशास्त्री वेबर के अनुसार सरकारी नौकरशाही में व्यक्तिगत रूप से निष्ठावान कर्मचारी सामूहिक रूप से विपरीत कर्म करते हैं। भ्रष्टाचार उन्मूलन हेतु विभिन्न अधिनियमों एवं केन्द्रीय सतर्कता आयोग के बावजूद भ्रष्टाचार बढ़ता जा रहा है क्योंकि इनका कार्यान्वयन शीघ्र और सख्त नहीं है तथा समाज में नैतिक मूल्यों एवं कर्तव्य का सर्वथा अभाव होता जा रहा है। इन दोनों पक्षों पर गम्भीर होने की आवश्यकता है, क्योंकि भ्रष्टाचार और कुशासन शासकों (अधिकारियों सहित) को अधिक सत्ता और सामर्थ्य प्रदान करते हैं। अतः सुधार हेतु उनसे स्वयं परिवर्तन की अपेक्षा नहीं की जा सकती और दुर्योधन की तरह 'न जानामि धर्मम्, न च मे प्रवृत्तिः। न जानामि पापम्, न च मे निवृत्तिः॥' में रत हैं।

### प्राचीन ग्रन्थों में कर्म और नैतिक मूल्यों की चर्चा

निष्काम कर्म को प्रतिपादित करने वाले श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने काम, क्रोध और लोभ को सभी अनर्थों का मूल और नरक का द्वार बतलाते हुए उन्हें त्याग कर कर्तव्य और अकर्तव्य में शास्त्र-सम्मत कर्म ही करने को प्रेरित किया है। उपनिषद् में भी सत्य बोलने और धर्म पर चलने को कहा गया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में चार पुरुषार्थों में केवल धर्म, अर्थ और काम पर चर्चा करते हुए अयोग्य, अशिक्षित और दुर्जन पुत्र को राज्य पर कभी भी प्रतिष्ठित करने को नहीं कहा गया है। द्वितीय अधिकरण में राजधन के अपहरण और निदान तथा राजकोष के भ्रष्टाचार से सम्बन्धित विस्तृत चर्चा है। 'धर्मस्थानीय' में राजा के धर्म और व्यवहार-स्थापना तथा 'मंडलयोनि' में राजा के गुणों की विशद चर्चा है।

रामायण में राम को उच्च नैतिक मूल्यों का पालन करते हुए अनेक आदर्शों को स्थापित करते हुए दिखलाया गया है। उद्दालक द्वारा यज्ञोपरान्त ब्राह्मणों को दक्षिणा में बूढ़ी गायों के दान पर उनके पुत्र नचिकेता द्वारा प्रश्न, उच्च नैतिक-बोध का परिचायक है। (कठोपनिषद्) राजा हरिश्चन्द्र द्वारा स्वप्न के आधार पर ऋषि विश्वामित्र को राज्यदान, दक्षिणा हेतु स्वयं का विक्रय एवं श्मशान पर सेवक के रूप में धर्मपत्नी शैव्या से पुत्र रोहिताश्व के दाह-संस्कार हेतु शुल्क में आँचल की प्राप्ति सत्यनिष्ठा, दानवीरता और कर्तव्यपरायणता का अप्रतिम उदाहरण है। पंचतन्त्र और हितोपदेश, संस्कृत साहित्य और जातक कथाओं में भी व्यवहार-कुशलता, उच्च आदर्श और नैतिक मूल्य भरे हैं। बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग में सम्यक् दृष्टि, सम्यक् वाक् और सम्यक् कर्म भी सम्मिलित हैं। बाइबिल में भी रिश्वत से दूर रहने को कहा गया है क्योंकि रिश्वत बुद्धिमानों की आँखें बन्द कर देती है और सदाचारियों के शब्दों को मरोड़ देती है। न्याय को नदी और सदाचार को अविरल धारा की तरह बहने दें।

### अन्ततः

देश को सत्यनिष्ठा, निष्पक्षता, सर्वधर्मसमभाव, और दक्षतापूर्वक परिचालन हेतु मूल्याधारित शिक्षा अनिवार्य है। ईमानदारी, नैतिकता, न्याय, देशप्रेम, मातृभूमि हेतु सम्मान, कठोर परिश्रम, विश्वसनीयता, कर्तव्यपरायणता, सर्वशक्तिमान के प्रति भय जैसे मूल्यों को बचपन से ही सिखलाना और व्यावहारिक बनाना चाहिए। मानव गरिमा, भावात्मक बुद्धि, साहस जैसे गुणों और उच्च आदर्शों को प्रशिक्षण में शामिल कर शासन और प्रशासन में कार्यों और उच्च नैतिक मूल्यों के निष्पादन हेतु प्रोत्साहित और पुरस्कृत किया जाना चाहिए। इस प्रकार, मूल्य आधारित शासन और प्रशासन भारत को सामर्थ्य और समृद्धि प्रदान करेगी।

ॐ सह नौववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवाव है।

तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषाव है। — कठोपनिषद्, शान्तिपाठ

## आधुनिक हिन्दी कहानी में बाजारवादी चेतना

प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, डी. लिट्\*

समकालीन हिन्दी कहानी पर बाजारवाद का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। कहानीकार युग, परिवेश और उसकी मूल्य चेतना के प्रति सतत जागरूक रहकर इस ओर ध्यान दे रहे हैं। जितेन्द्र ठाकुर 'एक झूठ एक सच'<sup>1</sup> में हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं कि उत्पादन पर उसी का अधिकार होगा, जिसके पास पैसा है। उनके लिए सर्वाधिकार सुरक्षित<sup>2</sup> है। एक गरीब की संवेदना को पूँजीपति वर्ग कैसे 'हाईजैक' करता है, इसका पता गरीबी और अमीरी के बीच माध्यम का काम करने वाला फोटोग्राफर भी नहीं जान पाता। अन्तरराष्ट्रीय पेटेंट व्यवस्था की साजिश को विस्तृत आकाश देती है कहानी।

इसी संग्रह में एक कहानी है 'दरीचे'<sup>3</sup> जो फासीवादी ताकतों से मिलकर साम्राज्यवादी ताकतों के रास्ता साफ करने की ओर इंगित करती है। यह तीसरी दुनिया के देशों को आपस में लड़ा रही है। 'एक नंगा दिन'<sup>4</sup> बाजारवाद को जरा प्रतीकात्मक ढंग से व्यंजित करती है। क्या कारण है कि एक सामान्य आदमी के सामने दिन एकदम नंगा हो जाता है और दूसरे के सामने वही सज-सँवरकर खड़ा हो जाता है। हरा-भरा कामुक लगता है। बस एक ही कारण है क्रय करने की क्षमता होना, जो बाजार संचालित करता है। जो खरीद सकता है, वही टिकता है। शेष सब हाशिए पर या नेपथ्य में फेंक दिए जाते हैं।

लोग बाजार को सीधे सरेआम न स्वीकार कर उसका छद्म प्रकट करते हैं। कुमारी बेटी अनुराधा वैसे तो ब्यूटीशियन कहलाती है। बासे और कपासे चेहरों को सजीव, उत्फुल्ल और आकर्षक बनाती है। परन्तु है वह बाजार की शिकार। चाहती थी डॉक्टर बनना पर धनाभाव जो न करा ले। अब वह एक ब्यूटी पार्लर में धनी महिलाओं की एड़ियों, टखनों और कोहनियों का मैल छुड़ाने का काम करती है। उसके

\*प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, डी. लिट्, वृन्दावन, मनोरम नगर, एल. सी. रोड, धनबाद-826001, झारखंड। मो. 093334088307

पिता त्रिलोकी नारायण भी बाजार के लिए उपयुक्त नहीं थे। इसलिए बाहर किए गए यों वह पढ़े-लखे थे। कहीं मुनीम थे :

‘ऐसे कलमघिस्सू आदमी को कौन पूछता। इस देश में कलमघिस्सू आदमियों की कमी है क्या? ऊपर से कम्प्यूटर अपनी पैठ बना रहा था। त्रिलोकी नारायण बाजार के लिए पूरी तरह व्यर्थ थे।’<sup>5</sup>

‘तैंतीस परसेंट’ (नीलिमा सिन्हा)<sup>6</sup> की नीरा चौधरी इसी बाजारवाद की शिकार होकर दुहेजू से ब्याही गई है और तैंतीस परसेंट के महिला आरक्षण कोटे में प्रदेश कार्यकारिणी की सदस्य चुनी गई है। न बोलने की तमीज, न बैठने का तौर-तरीका। पर सदस्य बन गई है। छह बच्चों के बाद रामसिंहासन बाबू की दूसरी पत्नी है तो। नीरा स्वयं स्वीकारती है :

‘किन्तु पैसा बड़ी चीज होती है। बेटी का क्या है? वह तो किस्मत का कर्ज है, जो जैसे भी उतरे, उतार फेंकना है। ऊँचे घर और बड़ी धन-सम्पत्ति का मालिक, रामसिंहासन बाबू जब बिना दाम कौड़ी के इस कर्ज का उतारने के लिए तैयार खड़ा था, तो वे भला क्यों चूकती।’<sup>7</sup> नीरा की जेठानी के छह बच्चे थे। उसे ही पालना, पोसना और पति की हवस को पूरा करना उसका काम था। आने के साथ जब उसने जेठानी के चरण छुए थे तो उसने हँसकर उसे आशीषा था :

‘बबुआ के जाँघे खिया।’<sup>8</sup> (बबुआ की जाँघ के नीचे रहना)

‘अब नीरा घिस ही तो रही है रामसिंहासन बाबू की जाँघों के बीच...

जिस दिन से नीरा का ऑपरेशन हुआ है, नीरा औरत के बजाय एक खोह बनकर रह गई है, भयंकर काली भुतही खोह।’<sup>9</sup> बाजारवाद ने महिला के ‘स्व’ को कैसे तार-तार कर दिया है, यह देखने लायक है।

अर्थ पिशाच ने नीरा को किस प्रकार गुलाम, परकटा पक्षी, असफल बनाकर रखा है, इसका उसे पग-पग पर अहसास होता है। सभा समाप्ति पर नीरा को जब लोग उसके सही नाम से (सिंहासन बहू या पंकज की अम्मा नहीं) पुकारते हैं तो उसे कितना सुख मिलता है। यह नीरा से पूछकर पता किया जा सकता है :

‘अपने नाम से बुनाए जाने में कितना बड़ा सुख होता है, यह कोई आज नीरा से पूछे...आज नीरा जैसे शापभुक्त हो उठी है, अपनी उस पिशाच खोह से आजाद जैसे पत्थर बनी अहिल्या एक बार फिर औरत बन उठी हो।... हे राम।’<sup>10</sup> नारी को दोगुना मानना ‘सेकेंड सेक्स’ बनाना बाजारवाद की ही साजिश है।

‘तीसरी चिट्ठी’ ‘पिज्जा’ और ‘छेदीलाल’ के बाद प्रेमपाल शर्मा का तीसरा कहानी-संग्रह है ‘अजगर करे न चाकरी’।<sup>11</sup> वह चाहे बच्चों पर लिखें, घरेलू या नौकरी पेशा स्त्रियों पर लिखें, सरकारी उच्चाधिकारियों, बाबुओं इत्यादि पर लिखें : उनकी चिन्ता के केन्द्र में रहते हैं वर्तमान जनविरोधी भ्रष्ट और राज्य-व्यवस्था या तन्त्र जो अंशतः या पूर्णतः बाजारवाद के विभिन्न साजिशों और हथकंडों से संचालित है। जिस

प्रकार सभी नाले, नदी एक ही महासमुद्र की दिशा में उन्मुख हैं, वैसे ही इन कहानियों के सारे पात्र, घटनाएँ, सन्दर्भ घुमा-फिराकर समाजार्थिक व्यवस्था की ओर ध्यानाकर्षण करते हैं। समाजार्थिक व्यवस्था यहाँ केन्द्र में है, जिससे समाज से अधिक अर्थ और उसको पाने के लाख छल-छद्म व्यक्त होते हैं। मानवीय चेतना और उसके विकास को किस प्रकार यह छल रहा है, बड़ी सूक्ष्मता से अंकित है। कहानी के आर-पार में अपनी प्रौढ़ावस्था में अपने लगभग मृतप्राय दाम्पत्य के पार आज अचानक जिस सम्भावनापूर्ण अनुभूति की आकांक्षा में यह दम्पती इतने हर्षित और उत्फुल्ल दिखाई पड़ रहे हैं, उसे एक खयाली पुलाव कहकर खारिज किया जा सकता है क्या? सम्भव है कुछ लोग इसे भूमंडलीकरण के मुक्त बाजार और आर्थिक उदारीकरण का सामाजिक-पारिवारिक प्रतिरूप कहकर झुठलाना चाहें पर वह नैतिकता या मापदंड क्या जो आदमी की आदमियत और उसकी इसी खुशी पर प्रश्न चिह्न उठा दे।

यथार्थ का द्वन्द्व सर्वत्र सिर पर चढ़कर बोलता है :

‘मैंने एक वर्ष में तुम्हें एक-एक टुच्ची चीजों के पीछे रफतार से भागते देखा है। यह मेरे लिए अभूतपूर्व अनुभव है। ...इन सुविधाओं के तूफानी दौड़ का कहीं तो अन्त होगा।’<sup>11</sup> उपभोक्तावाद संस्कृति, तो बाजारवाद की समस्या है। साम्प्रदायिकता और आतंकवाद की समस्या है। स्त्री-चेतना का विमर्श भी वहाँ है। वृद्धावस्था की समस्याएँ दूर तक फैले जातीय समीकरणों की समस्या, युवा पीढ़ी के प्रेम-सम्बन्धों की समस्याएँ—सभी का बेबाक चित्रण मिलता है ‘परिन्दे का इन्तजार सा कुछ’ (नीलासी सिंह)<sup>12</sup> में। हिन्दी कहानी ने बाजारवाद और उपभोक्ता संस्कृति पर तरह-तरह से विचार किया है, परन्तु नीलाक्षी सिंह का तेवर दूसरा है। ‘प्रतियोगी’<sup>13</sup> कहानी में इसका इस तरह विश्लेषण हुआ है कि स्थिति की विकासात्मक परिणति जीवन्त हो उठी है। वह वातावरण को किंचित बोझिल नहीं बनाकर उसे जीवन्तता के साथ प्रस्तुत करती है।

किस प्रकार ‘देसी बाजार’ के ‘देसी ढंग’ पुराने पड़ते गए, किस प्रकार जलेबी कचरे को नए जमाने के फास्ट फूड-टाइप-आइटम पछाड़ते चले गए, किस प्रकार ‘बमशंकर भंडार’ और ‘छक्कन प्रसाद एंड सन्स’ नामक मिष्ठान्न संस्थानों में ‘प्रतियोगिता’ से एक-दूसरे को पछाड़ डालने का माददा आया, किस प्रकार ‘लोग वहाँ दुधियाने लगे और कस्बे-भर की मक्खियों ने दुलारी और मुसमालिन की कड़ाहियों पर धावा बोल दिया। न कोई पिअनवा को पूछता अब, न कचरी को, न जलेबी को। इन चीजों के नाम ही इतने धुर देहाती-प्रतीत होने लगे थे कि जीभें उच्चारने में लजाती थीं।’<sup>14</sup>

यह पीड़ा दुलारी और मुसमालिन की ही नहीं है, यह पीड़ा ‘एक पूरी परम्परा ...कुछ दुलारी जैसों को उखाड़कर बहा दिए जाने की थी।’

यहाँ एक नया मध्यम वर्ग उस बाजार के माध्यम से उदित हुआ, जिसका चरित्र 'खूब कमाने' और 'खूब खरचने' का था। 'छक्कन प्रसाद एंड सन्स' फास्ट फूड सेंटर एक प्रतीक है, जिसके माध्यम से पूरे देश के गाँव-कस्बों के वैश्वीकरण की आँधी में एक ग्लोबल गाँव के रूपांतरण की पीड़ा दर्ज हो सकी है। जनसंख्या के सिद्धान्तकार माल्थस का हवाला देकर व्यंग्याघात किया गया है :

‘यह देश यह समय भी तकनीकी क्रान्ति नाम की एक नई क्रान्ति से गुजर रहा था। मानव की कीमत दिन-ब-दिन निचले सूचकांक को छू रही थी और जनसंख्या भी एक स्थानीय देवता के डेग के समान तीनों लोक नाप लेना चाहती थी।’<sup>15</sup>

वर्तमान बाजारवादी प्रवृत्ति इस हद तक जा सकती है कि वह मृत्यु को भी भुना लेती है। शहीद विधवा स्त्री के शोक को म्यूजिक एलबम बनाकर कैश किया जाता है। ‘छोटे राजा साहब की बड़ी प्रोडक्शन कम्पनी’ हाल में हुए युद्ध में वीरगति प्राप्त शहीद की स्मृति को ‘जो लौट के फिर न आए’ एलबम बना यह सिद्ध कर देती है कि हर चीज का बाजारीकरण किया जा सकता है। ‘मनुष्य का आँसू’ किस प्रकार बाजार के लिए कीमती हो सकता है। माल्थस इसे बात से हैरान-परेशान हैं। कभी इंग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति ने मनुष्य की हस्तकला को मशीन से परास्त किया था, आज उसी का नतीजा बाजार की निर्दयी स्थितियाँ हैं।

आधा खुला दरवाजा (तरसेम गुजराल)<sup>16</sup> में रमेश वर्मा अपनी कुछ घंटों की प्रेमिका के पास इसलिए जाता है कि प्रसिद्ध पत्रकार उसके बेटे के भविष्य का कोई अच्छा इन्तजाम कर पाए। सुनयना चाहती है कि उसके कैरियर के लिए तुमसे बात करूँ ... पढ़ाई अब इतनी महँगी है...लगता है कि एक खास वर्ग ही इसे खरीद पाएगा।<sup>17</sup>

‘आभास’ के सम्पादक जैन को पत्र से अच्छी आमदनी होनी चाहिए। वह इसे शुद्ध व्यापार मानते हैं, जबकि शील इसे समाज, लोकहित के लिए समर्पित मानती है। जैन मीटिंग में खुलेआम बताते हैं :

‘शील मैडम कोई नोआम चामस्की तो नहीं है कि बाजारवाद का कोई नया ऐंगिल पकड़ लाई हो। वहाँ की गगनचुंबी इमारतों और स्वच्छ व्यवस्था की कहानियाँ सुन-सुनकर लोगों के कान पक गए हैं। ‘आभास’ की लाखों रुपए की स्पेस अपना तीर चलाने के लिए नहीं दी जा सकती, वह भी धुप्प अँधेरे में।’<sup>18</sup>

सन्धिरेखा (सुदर्शन नारंग)<sup>19</sup> में एड्स बीमारी फैल गई है और डॉक्टर, जाँचघर अपना खजाना भर रहे हैं। इलाज जरा भी इलाज नहीं रहा, शुद्ध व्यापार हो गया। इतना ही नहीं, पता चला है कि एड्स के कीटाणु सूर्य द्वारा स्वस्थ शरीर में प्रवेश कराए जाते हैं, जिससे चिकित्सक, दवावाले को लाभ हो। डॉक्टर किसी विशेष लैब से जाँच कराने पर जोर देते हैं, जिससे उसे भरपूर कमीशन मिलें :

‘टैस्ट के पर्चे पर डॉक्टर त्रिलोकी ने ‘अपोलो लैब’ का नाम लिख दिया था। अपोलो लैब से हर रेफरेंस के लिए पच्चीस प्रतिशत उसे कमीशन मिलता था। इस तरह डॉक्टर की अच्छी-खासी कमाई हो जाती थी।’<sup>20</sup>

एक कटा हुआ कमरा : राजी सेठ<sup>21</sup> में नायिका को गृहस्वामी सर्वत्र अपने सामान दिखाती फिरती है। अपनी सम्पन्नता, औकात बताती रहती है :

‘यह काजू के बिस्कुट हैं... आपके लिए खास तौर से मँगाए हैं... अभी के अभी।’<sup>22</sup>

बच्चा उसे झपट लेना चाहता है, जो गृहस्वामी नहीं चाहता। वह चाहता है कि मेहमान उसे जल्दी साफ कर ले :

‘आप इसे जल्दी से खा क्यों नहीं लेते?’ ...<sup>23</sup>

इस प्रकार घर की आलमारी, बर्तन, बासन, एलबम सब उसे दिखाए जाते हैं। सर्वत्र अपने को अपनी अमीरी को, बाजार को थोपने की भरपूर कोशिश। नायिका, हतप्रभ, परेशान, निराश। यहाँ तक कि अपनी चप्पल दिखाई जाती है :

‘देखिए इसका तला जला टायर का नहीं है... अच्छे दाम पर मिल गई थी।’<sup>24</sup>

‘त्रासदी माई फुट :’ रमेश उपाध्याय<sup>25</sup> में बताया गया है कि कैसे सत्ता बाजार और मीडिया मिलकर एक ऐसा इन्सान तैयार कर रहे हैं, जो सिर्फ उनकी इच्छाओं पर चलता रहे। वह ऐसी कहानी लिखें, जो किसी एक इन्सान, परिवार, किसी एक शहर या देश की न होकर समूची दुनिया की कहानी बने। यह साहित्य की भूमिका के ग्लोबलाइजेशन करने का सवाल है। ‘हम किस देश के वासी हैं?’<sup>26</sup> में बताया गया है कि प्रबन्धन और मीडिया के गठजोड़ से कारखाना चलता है। मजदूर नेताओं की भी उसमें मिलीभगत है।

महेश दर्पण इस कहानी-संग्रह की समीक्षा में बताते हैं :

‘बड़े कलात्मक और खामोश अन्दाज में यह कहानी कंज्यूमर कल्चर के विस्तार में मास मीडिया की भूमिका और जीवन पर पड़ रहे विज्ञापन जगत के प्रभाव को सामने रखती है। कम्पनियों के फार्मूले—बेटर, फास्ट और चीपर की परतें उधारते हैं... कथाकार ने मजदूर वर्ग को भी कंज्यूमर कल्चर की गिरफ्त में पाया है। वह अपनी ऊर्जा को आन्दोलन में नहीं चीजों को खरीदने और उसकी किशत चुकाने में लगाने लगा है।’<sup>27</sup>

‘अब ये रास्ता नहीं है’ : मुरारी शर्मा<sup>28</sup> में गाँव में हुए बाजारवाद, व्यापार, कमाई के कारण परिवर्तन को रेखांकित किया गया है। सारा परिवर्तन, उथल-पुथल, आन्दोलन बाजारवाद के कारण है।

‘लोगों ने अब चारागाहों को बन्द कर दिया है। घर में पशु पालना छोड़ चुके हैं। खेती करसाणी में जो मेल-मिलाप रहता था, वह अब नहीं रहा। डंगरों की जगह पर लोगों ने ट्रैक्टर और टिप्पर खरीद लिये हैं। नदी-नाले और जमीन में खुदाई करके



दिन-रात रेतबजरी निकालकर डैम के लिए सप्लाई की जा रही है। माटी सोने के भाव बिक रही है। कल की फिक्र किसे है, सब आज ही में जीना चाहते हैं।<sup>29</sup>

पहले पर्व-त्योहारों, दुर्गापूजा, लक्ष्मीपूजा, गणेश-पूजा आदि के अवसरों पर मूर्तिकार मिट्टी की अनेक मूर्तियाँ बनाते थे। वे यह काम बड़ी पवित्रता और श्रद्धा से करते थे मानो वे हर क्षण मूर्ति में बसे देवता की आराधना कर रहे हों। परन्तु युग बदला। युग के मूल्य बदले। अब अपने खेत की मिट्टी कोई नहीं देना चाहता है। अब किसी के खेत से मिट्टी उठाएँ, तो वह दाम माँगने लगता है। पूजा, आराधना, देवता, भगवान, पुण्य के नाम पर उसका दिल नहीं पसीजता।

‘बिजनेस है तुम लोगों का फायदा उठाते हो, हम मुफ्त में अपनी जमीन क्यों खराब करें।’<sup>30</sup>

शहर का विकास होगा तो आस-पास की पत्तियाँ खाली गोचर जमीन कटेगी ही। वहाँ आबादी बढ़ती जाएगी। फिर खाली जमीन से मिट्टी खोदने का सवाल कहाँ उठता है। दूर-दराज के खेत से आएगी मिट्टी, तो स्वाभाविक है कि मूर्ति की कीमत बढ़ जाएगी और वह प्रतियोगिता में पिछड़ जाएगी। आखिर बाजार तो चारों ओर बिखरा पड़ा है और सब उस मशीन का पुर्जा-भर बनकर रह गए हैं। खुखिया लम्बी साँस भरकर कहती है :

‘आठ दस मूर्तियाँ ज्यादा बन जातीं तो साल-भर का खर्चा निकल जाता।’<sup>31</sup>

उधर यह भी मलाल है कि मूर्तियाँ बनाने का काम सिजनल है। फिर बेकारी-ही-बेकारी। मूर्तियाँ बनाने वाले हाथ ईंट पत्थर ढोएँ, यह कितना दुःखद है। वह अपने-आप पर खिजलाता है। तुरा यह कि इस हस्तकला, मूर्तिकला पर मशीनीकरण का प्रभाव। घर-घर मशीनें मूर्तियाँ गढ़ने के लिए। बना बनाया साँचा। मशीन में डाला, चेहरा तैयार। अब हाथ को रंग भरना भी नहीं पड़ता। फिर कहाँ पुश्तैनी पेशा, कहाँ कलाकार, कहाँ मूर्तिपूजा—सब बाजारवाद के दैत्यों ने अपने जबड़ों में कर लिया है फिर भी मनुष्यता में उम्मीदें शेष हैं। और वही उसके अनवरत संघर्ष की प्रेरणा है।

### सन्दर्भ-संकेत

1. एक झूठ-एक सच : जितेन्द्र ठाकुर 2003 मेधा बुक्स दिल्ली।
2. सर्वाधिकार सुरक्षित, उपरिवत्
3. दरीचे, उपरिवत्
4. एक नंगा दिन, उपरिवत्
5. इक्कीसवीं सदी की एक दिलचस्प दौड़ : सुभाष पन्त, समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई-अगस्त 2005, पृ. 160
6. तैंतीस परसेंट : नीलिमा सिन्हा, आशय, लखनऊ, अक्टूबर-4-जून, 2005, पृ. 54
7. उपरिवत् पृ. 54

8. उपरिवत् पृ. 54
9. उपरिवत् पृ. 55
10. अजगर करै न चाकरी : प्रेमपाल शर्मा, 2005, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली
11. उपरिवत् पृ. 70-71
12. भारतीय ज्ञान पीठ, नई दिल्ली, 2005
13. 'परिन्दे का इन्तजार सा कुछ' की एक कहानी
14. उपरिवत्
15. उपरिवत्
16. समकालीन भारतीय साहित्य, मई-जून 2005, पृ. 114
17. आधा खुला दरवाजा, उपरिवत् पृ. 111
18. आधा खुला दरवाजा, समकालीन भारतीय साहित्य, मई-जून 2005, पृ. 111
19. समकालीन भारतीय साहित्य, मई-जून 2005, पृ. 100
20. उपरिवत् पृ. 101
21. समकालीन भारतीय साहित्य, सितम्बर-अक्टूबर 2006, पृ. 31
22. उपरिवत् पृ. 33
23. उपरिवत् पृ. 33
24. उपरिवत् पृ. 35
25. समकालीन भारतीय साहित्य, मार्च-अप्रैल 2014
26. उपरिवत्
27. उपरिवत् पृ. 212
28. समकालीन भारतीय, साहित्य, मार्च-अप्रैल 2014 में 'अब ये रास्ता नहीं है' : मुरारी शर्मा, पृ. 101
29. समकालीन भारतीय साहित्य, सितम्बर-अक्टूबर 2006 में
30. रंग अधूरे : सुरेन्द्र तिवारी, पृ. 101
31. उपरिवत् पृ. 105
32. उपरिवत् पृ. 105

## पश्चिमी सार्वभौमिकता और भारतीयता की आत्मगवेषणा\*\*

अम्बिकादत्त शर्मा\*

पाश्चात्य सार्वभौमिकता अपने सांख्यिक अभियान में मुक्त-अर्थव्यवस्था और केन्द्रीकृत उत्पादन प्रणाली के द्वारा एक ऐसे मनोविज्ञान को जन्म दिया है, जहाँ मनुष्य एक-आयामी प्राणी (हरबर्ट मारक्यूजे) बनकर रह गया है। ऐसा एक-आयामी मनुष्य जो अपने-आप में अपनी ही स्वतन्त्रता से भयभीत है (एरिक फ्रॉम)। इस मनोविज्ञान ने 'समाज से कटे हुए मनुष्य' की आधारशिला पर जिस समाज एवं राज-व्यवस्था का निर्माण किया है, उसमें व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक क्षेत्र का भेद ही विलुप्तप्राय (हन्ना एरेंट) होता जा रहा है। परिणामस्वरूप मनुष्य की दोहन क्षमता जनित उपभोग की लिप्सा ने उसके जीवन में साहचर्यमूलक उद्यम जनित आनन्द (सी.बी. मैक्सर्सन) को आक्रान्त कर दिया है। ऐसी स्थिति में आज का मनुष्य, वास्तव में, वह नहीं है, जो वह होना चाहता है, बल्कि वह वैसा हो गया है, जैसा कि वह अपने बाह्यतामूलक चयन के कारण पहचाना जाता है (जे.पी. सार्त्र)। फिर भी बिडम्बना यह है कि आज भी सबके लिए समान स्वतन्त्रता के मूल्य (जॉन रॉल्स) की प्रतिष्ठा में ही मानव-जाति के कल्याण के सूत्र खोजे जा रहे हैं। कदाचित् यह विचार किए बगैर कि स्वतन्त्रता जिसके लिए उपभोग्य है, वह मानव वस्त्वर्थी उपभोक्ता के अतिरिक्त कुछ और है भी या नहीं।

पश्चिमी सभ्यता के दिग्विजयी अभियान में उसके अन्दर से ही उठने वाले ऐसे अनेक प्रश्न निश्चित रूप से आनुभविक धरातल के प्रश्न नहीं हैं, बल्कि इन प्रश्नों का

\*दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003

\*\*समीक्षा : पुस्तक : विभिन्नता : पश्चिमी सार्वभौमिकता को भारतीय चुनौती, लेखक : राजीव मल्होत्रा, अनुवादक : देवेन्द्र सिंह, प्रकाशक : हार्पर कॉलिन इंडिया लिमिटेड, मूल्य : 350

सम्बन्ध हरमेन्युटिक (अस्तित्वात्मक) प्रश्नों (हन्ना एरेंट) से है। परन्तु यह भी एक कैसी दुस्साध्य विडम्बना है कि मानव जीवन के व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक क्षेत्र का सिमटता हुआ अन्तर तथा रचनात्मकता एवं क्रियाशीलता का संकुचित होता हुआ क्षेत्र मानव-मस्तिष्क को अनुभवजन्य प्रश्नों के इर्द-गिर्द ही विचार करने को विवश करता जा रहा है। शायद ही आज का विचारशील मनुष्य इस विवशता को पहचानकर आत्मचेतन रूप से हरमेन्युटिक प्रश्नों का सामना करने की स्थिति में अपने को पाता हो। इस कारण मानो आज अन्तर-सांभ्यतिक संवाद और अन्तर-सांभ्यतिक समझदारी की असली जमीन ही खिसककर अनुभवजन्य प्रश्नों की शिला पर अटककर रह गई है। अनुभवमूलक प्रश्नों की परिधि के भीतर से जन्म लेने वाले चिन्तन में विमर्श के बाह्य-भेदमूलक पक्ष की बड़ी ही तथ्यपरक मीमांसा आज अनेक ख्यातनाम विचारकों के चिन्तन में देखने को मिलती है। उदाहरण के तौर पर विगत शताब्दी के आठवें दशक में 'ओरियंटलिज्म' (एडवर्ड सैड) एक प्रभावशाली रचना के रूप में सामने आई, जिसमें लेखक ने पश्चिम एवं पूर्व के उस समीकरण को उजागर किया है, जहाँ पश्चिम ने पूर्व को अपने प्रतिकूल प्रतिमान के रूप में गढ़ने का प्रयास किया। राजीव मल्होत्रा की सम्प्रति चर्चित पुस्तक 'विभिन्नता' जो उनके द्वारा 'बीइंग डिफरेंट' शीर्षक से लिखी गई पुस्तक का देवेन्द्र सिंह कृत हिन्दी अनुवाद है, वह भी पूरब और पश्चिम के एक नए समीकरण को उजागर करती हुई प्रतीत होती है। इस समीकरण को पश्चिम द्वारा प्राधिकृत पूर्व के प्रतिरोध का प्रतिमान कहा जा सकता है। राजीव मल्होत्रा प्राक्कथन में ही इस प्रतिरोधी प्रतिमान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "मैं केवल भारतीय धार्मिक परिदृश्य का उपयोग करते हुए उस विश्लेषणात्मक अवलोकन को उलट देना चाहता हूँ, जो प्रायः पश्चिम से पूर्व की ओर केन्द्रित है और अनजाने में पश्चिम को विशेषाधिकार प्रदान करता है। उसे उलटने से पश्चिमी सभ्यताओं का मूल्यांकन एक विशिष्ट तरीके से सम्भव हुआ है, जिसके द्वारा पश्चिम के कुछ अनदेखे पहलू उजागर हुए हैं। इससे यह देखने में आया है कि भारतीय धार्मिक संस्कृतियाँ कई समस्याओं को, जिनका सामना आज विश्व कर रहा है, सुलझाने में और कम करने में कैसे योगदान कर सकती हैं।" राजीव जी के इस दावे से प्रथमदृष्टया ऐसा प्रतीत हो सकता है कि उनके इस प्रतिरोधी प्रतिमान में आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के हरमेन्युटिक प्रश्नों के समाधान के नायाब सूत्र निहित हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि भेदमूलकता पर आधारित होने के कारण इस प्रकार के चिन्तन द्वारा कोई भी विचारक अपने उस व्यक्तिगत अथवा जातीय जीवन के क्षेत्र एवं पहचान को खोजने में उलझ जाता है, जो सार्वजनिक जीवन के प्रबल आच्छादन में खो-सा गया है। ऐसे प्रयासों से अन्ततः उसके हाथ कुछ भी नहीं लगता, क्योंकि जिस भूमंडलीकृत समाज में वह अकुलाहट और व्याकुलता के साथ जी रहा होता है, वह एक विश्वव्यापी तन्त्र

के दबाव में निरन्तर बदलता जा रहा होता है। अतः प्रतिरोधी प्रतिमान का पूर्वपक्ष ही यदि बदल रहा हो तो उसके बरक्स किसी प्रतिमान को स्थिर ही भला कैसे किया जा सकता है? अलबत्ता इस बदलाव में जो नहीं बदल रहा होता है, वह है मनुष्य का उपभोक्ता स्वरूप। परन्तु उसके लिए भी कल क्या उपभोग्य है और क्या होना चाहिए, यह निर्धारित करने में भी वह सक्षम नहीं रह गया है। इस पर त्रासदी यह है कि मानवीय क्षमता को परिभाषित करने एवं उसे सर्वमान्य रूप में विकसित करने की जिम्मेवारी भी उसी विश्वव्यापी तन्त्र की है, जिसको सर्वाधिक लाभ उस मानव से है जो मात्र उपभोक्ता और संवेदना का पुंज मात्र हो। यदि नहीं है तो वैसा उसे बनाये जाने के लिए भी कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी जायेगी। इस स्थिति में अन्तर-सांभ्यतिक, अन्तर-धार्मिक और अन्तर-सामुदायिक समझ और सौहार्द को तलाशने हेतु किए जाने वाले अकादमिक प्रयास क्या वास्तव में सार्वभौम पश्चिम से जुड़े हरमेन्युटिक (अस्तित्वमूलक) प्रश्नों का समाधान इस रूप में ढूँढ़ पा रहे हैं, जो सभ्यताओं, धार्मिक परम्पराओं की विभिन्नता को अक्षत रखते हुए उन्हें 'विश्वयारी' का समान भागीदार होने का अवसर प्रदान कर सके।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में यदि राजीव मल्होत्रा की कृति 'विभिन्नता' का मूल्यांकन किया जाए तो कहा जा सकता है कि राजीव जी असली समस्या को नजरअन्दाज कर देते हैं। संक्षेप में वास्तविक समस्या यह है कि आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता अपने व्यापक अर्थों एवं स्वकीय विकास की सम्पूर्ण निष्पत्तियों के साथ आज एक बलीयसी 'विश्व-सभ्यता' का रूप अख्तियार कर लिया है। आताल से पाताल तक फैल रही इस विश्व-सभ्यता में दुनिया की तमाम सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ तथा धार्मिक परम्पराएँ अपनी जीवन-दृष्टि और जातीय अस्मिताओं को मिटाते हुए मानो इस तरह उसमें समाती जा रही हैं, जैसे 'ब्लैक होल' में सब कुछ अपनी इयत्ता और पहचान को समाप्त कर विलीन हो जाया करते हैं। इतना ही नहीं, आज यन्त्र, उद्योग और अर्थव्यवस्था के जिस स्वरूप को सार्वभौम स्वीकृति प्राप्त हो गई है, उसने न केवल गैर-पश्चिमी 'धर्म' को बल्कि पश्चिमी 'रिलिजन' को भी अपना अनुगामी बना लिया है। ऐसे में महज व्युत्पत्तिक, शाब्दिक और व्याकरणिक तथा कतिपय अतीत के अनुभवों के आधार पर यह बताना कि 'धर्म' व्यापक और विराट प्रत्यय है तथा इसकी तुलना में 'रिलिजन' न्यून एवं संकुचित है, वास्तविक समस्या का वास्तविक समाधान नहीं कहा जा सकता। राजीव जी ने वस्तुतः इस पुस्तक के विभिन्न अध्यायों जैसे 'दुस्साहस भिन्नता का', 'योग-इतिहास से मुक्ति', 'कृत्रिम एकता एवं समग्र एकता', 'व्यवस्था और अव्यवस्था', पश्चिमी सार्वभौमिकता से मुकाबला तथा इतिहास-केन्द्रिकता और सन्निहित एकता जैसी अवधारणाओं के द्वारा धर्म का महिमामंडन और रिलिजन का मान विडम्बन ही दिखाया है। इस तरह राजीव जी भी इब्राहिमी पश्चिम की

प्रतिक्रिया में एक और वैदिक पश्चिम गढ़ने का प्रयास करते दिखाई देते हैं। यदि भारतीय धर्मबोध और उसका साम्यतिक रूपायन विभिन्न सभ्यताओं के बीच सचमुच महनीय है तो कोई जरूरी नहीं कि उसकी आत्मप्रतिभा और मौलिक प्रतीक किसी दूसरे की प्रतिक्रिया में अपने को परिभाषित करें।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजीव मल्होत्रा की महत्वाकांक्षी कृति 'विभिन्नता' एक ऐसी रचना है, जो ख्रिस्तीय 'रिलिजन' और सनातनी 'धर्म' के अनुभवजन्य एवं बाह्यपक्षीय प्रश्नों/विश्लेषण पर खड़ी होती है और दोनों की मूल्यांकनपरक तुलना करते हुए आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के हरमेन्युटिक (अस्तित्वमूलक) प्रश्नों के समाधान का दावा करती है। यही इस पुस्तक की सबसे बड़ी अच्छाई या कहीं सबसे बड़ी कमी भी है। अच्छाई इस अर्थ में कि राजीव जी ने बड़े साहस के साथ पाश्चात्य और भारतीय सभ्यता के निहितार्थों एवं निष्पत्तियों को क्रमशः न केवल 'रिलिजन' और 'धर्म' केन्द्रित, बल्कि उन्हीं से अद्यतन निर्धारित रूप में व्याख्यायित किया है। पुनः कमी इस अर्थ में कि 'रिलिजन' और 'धर्म' से सम्बन्धित प्रश्नों एवं उनके उत्तरों को जब हम उनके सांस्कृतिक-साम्यतिक सन्दर्भ में देखते हैं तो उसे एकरेखीय विश्लेषण का विषय नहीं बनाया जा सकता, जबकि राजीव जी ने इन दोनों के बहुस्तरीय एवं बहुध्रुवीय कलेवर को अपने विवेचन से बहिष्कृत ही रखा है। 'रिलिजन' और 'धर्म' के ऐतिहासिक विकास और साम्यतिक रूपायन की दीर्घकालिक प्रक्रिया को बहुस्तरीय एवं बहुध्रुवीय कहने का आशय यह है कि इन दोनों अवधारणाओं में आज के समय तक मूर्त-अमूर्त रूप में जो कुछ भी समायोजित हो चुका है, उसमें नीर-क्षीर विवेक से यह बता पाना कठिन है कि उसमें क्या मौलिक है और क्या कुछ काल-क्रम में बाहरी तौर पर अवाप्त किया हुआ है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि धर्म, अध्यात्म, रिलिजन, नैतिकता और साम्प्रदायिकता इत्यादि से जुड़े मुद्दे युगधर्म को आत्मसात् करते हुए देश-काल सापेक्ष होते हैं। उदाहरण के लिए बाइबिल यद्यपि मनुष्य को अपने पक्ष में सम्पूर्ण प्रकृति के उपयोग की छूट देता है, परन्तु इस धार्मिक अनुमोदन के आधार पर यह तो नहीं कहा जा सकता कि यही धार्मिक दृष्टि प्रकृति के वर्तमान अराजक विदोहन के लिए जिम्मेवार है, जब तक कि विज्ञान एवं तकनीक का उसे बाहर से समर्थन न प्राप्त हो। इसी तरह भारतीय धर्म-दृष्टि अपने स्वरूप पक्ष में अद्वैतवादी है, लेकिन अपने अभिव्यक्ति पक्ष में पता नहीं जाति-पाँति छुआछूत जैसे कितने भेदभावों को कालक्रम में अवाप्त भी किया है, तो कभी उनके विरोध की प्रबल आत्मचेतना भी दिखाई है। अतः इन प्रयत्नों में ऐसा लचीलापन न हो तो इनका बहुआयामी विकास सम्भव ही नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त 'रिलिजन' और 'धर्म' दोनों ही मनुष्य का मनुष्य से, समाज से, प्राकृतिक जगत् से और अपने-आप से सम्बन्धों के स्वरूप एवं औचित्य का निर्धारण भी करते हैं। दोनों ही मनुष्य में निहित

पवित्रता, अमरता एवं व्यापकता जैसी पर्येषणाओं को प्रस्फुटित करने के माध्यम भी बनते हैं। परन्तु इन सबके बावजूद 'रिलिजन और 'धर्म' दोनों ही अपने-अपने तरीके से वैभव, प्रसार, प्रतिष्ठा, वर्चस्व और प्राधिकार प्राप्त करने तथा इन सबों के द्वारा स्वयं के आत्मविस्तार का उपक्रम भी साधते हैं। अतः इन दोनों अवधारणाओं को बहुकेन्द्रीय एवं बहुआयामी प्रक्रिया में देखना ही अधिक सुसंगत है, जबकि 'विभिन्नता' के लेखक ने इन्हें एकबारगी एकरेखीय मानकर पाश्चात्य सभ्यता और भारतीय सभ्यता को 'रिलिजन' तथा 'धर्म' का ही आत्मविस्तार माना है। ऐसी दृष्टि किसी धर्मभीरु मानस को भले अच्छा लगे और इस प्रकार का तुलनात्मक मूल्यांकन भले धार्मिक परम्पराओं को अपने अन्दर झाँकने के लिए कदाचित् उद्देलित करे, लेकिन तुलनात्मक धर्म और तुलनात्मक सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से ऐसे प्रयासों की अकादमिक मूल्यवत्ता प्रश्नांकित ही बनी रहती है।'

इस पुस्तक में भारतीय धर्मबोध और तन्मूलक सभ्यता का महिमामंडन करने के लिए राजीव जी ने जिस 'पश्चिम' को पूर्वपक्ष बनाया है, उस पश्चिम की अवधारणात्मक योजना पूरे तौर से स्पष्ट नहीं हो पाई है। एक संवेदनशील पाठक कभी यहूदी-क्रिश्चियन परम्परा में पश्चिम को टटोलता है तो कभी आधुनिक विज्ञान और तकनीकी के द्वारा निर्मित आधुनिक सभ्यता में सार्वभौम पश्चिम का प्रतिमान ढूँढ़ता है। इस सन्दर्भ में एक दृष्टि यह है कि विज्ञान, तकनीक, यन्त्र, उद्योग और अर्थव्यवस्था के जिस स्वरूप को लेकर पश्चिमी सार्वभौमिकता का दावा किया जाता है उसका जन्म उस ईसाइयत के गर्भ से हुआ है, जहाँ 'रिलिजन' के नाम पर होने वाली बर्बरता से त्रस्त मानव ने लौकिक जीवन में ही अपना अन्तिम कल्याण खोजा और लोकोत्तर जीवन-दृष्टि का तिरस्कार करते हुए 'सेक्युलर' विश्व-दृष्टि को आत्मसात् किया। दूसरी दृष्टि जो अधिक व्यापक है वह यह कि 'आधुनिक पश्चिम' विज्ञान और ईसाइयत के मेल-जोल से बना है। राजीव जी का वास्तविक पूर्वपक्ष यही पश्चिम है, लेकिन वे इसकी रूपरेखा स्पष्ट नहीं करते। यद्यपि उन्हें इस पश्चिम के बनावट का ऊपरी तौर पर बोध है, जिसे वे अपनी शब्दावली में इतिहास केन्द्रिकता, कृत्रिम एकता, टेम्पलटन योजना और हेगेलीय मिथक के नाम से बार-बार दुहराते हैं, परन्तु यह सब कुछ ईसाईधर्म और आधुनिक विज्ञान के ऐतिहासिक गठबन्धन को स्पष्ट किए बिना एक मध्यपाती विवेचना बनकर ही रह जाती है।

इस आधुनिक पश्चिम के इतिहास और सम्भवन पर एक सिलसिलेवार दृष्टि डाली जाए तो कहा जा सकता है (विलियम मैकनील) कि पाँच सौ ईसा पूर्व से पन्द्रह सौ ईसवी तक दुनिया में सभ्य जीवन के किसी एक केन्द्र का प्राधान्य नहीं था। प्राचीन कही जाने वाली दुनिया में जो चार विशिष्ट जीवन-शैलियाँ पाँच सौ ईसा-पूर्व तक विकसित हो चुकी थीं (मध्य पूर्व, भारत, यूनान और चीन), वे मोटे तौर पर एक

दूसरे के हमवजन थीं। इनमें से प्रत्येक ने दो हजार वर्षों तक अपनी-अपनी स्वायत्तता को बनाए रखा। पन्द्रह सौ ईसवी के बाद सभ्यताओं का यह चौहरा सन्तुलन डगमगाने लगा (जे.एल. मेहता)। यूरोप की बढ़ती हुई शक्ति और समृद्धि से मध्यपूर्व, भारत और चीन की जीवन-शैलियाँ प्रभावित होने लगीं। सत्रह सौ ईसवी तक यह स्पष्ट हो गया था कि पश्चिम का पलड़ा इस दृष्टि से भारी पड़ रहा है, फिर भी तीनों की संस्कृति पर कोई गम्भीर चोट नहीं आई और न ही किसी प्रकार के खतरे का किसी को अनुभव हुआ। परन्तु सन् सत्रह सौ और अठारह सौ की अवधि में यूरोपीय शक्ति का प्रभुत्व औरों के तन पर बढ़ता रहा पर उनके मन पर विशेष प्रभाव नहीं डाला। सन् अठारह सौ पचास के बाद प्राचीन सभ्यताओं का यह चौहरा सांस्कृतिक सन्तुलन पूरे तौर से नष्ट हो गया। पश्चिमोत्तर लोगों की परम्परागत जीवन और विचार शैली विघटित होने लगी। पश्चिम में भी यद्यपि सांस्कृतिक संकट की अनुभूति हुई, लेकिन इससे उसके सर्वव्यापी बौद्धिक प्रभुत्व पर कोई असर पड़ता नहीं दिखा। ऐसा लगने लगा कि पूरी दुनिया में एक नई ऐतिहासिक दृष्टि से अभूतपूर्व सार्वभौम चेतना का उदय हो रहा है।

यही वह सार्वभौम चेतना है, जिसे एक ओर आधुनिकता की 'सेक्युलराइजेशन ऑफ वर्ल्ड' की एक बृहद् कार्य-योजना के रूप में देखा जाता है तो दूसरी ओर इसे क्रिश्चियनिटी का विश्व-विजय भी माना जाता है। यहूदी-क्रिश्चियन परम्परा की प्रमुख मान्यताओं में एक दुनिया को पूरे तौर से लौकिकीकरण की ओर ले जाना है। इसी में वे धार्मिक भावना का उत्कर्ष देखते हैं। यहाँ एक बात जो महत्वपूर्ण है वह यह कि क्रिश्चियन एकेश्वरवाद को आधुनिक विज्ञान के उदय का आधार बताया जाता है और देखने लायक बात यह है कि आधुनिक विश्व सभ्यता के रचनात्मक तत्त्वों में क्रिश्चियनिटी का प्रच्छन्न योगदान व्यापक रूप से हुआ है। आधुनिक सभ्यता के नाम पर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, विधिक एवं चिकित्सीय व्यवस्थाओं के जिन प्रत्ययों को तटस्थ एवं सार्वभौम मानकर स्वीकार कर लिया जाता है, वे सभी मौलिक रूप से क्रिश्चियन विश्व-दृष्टि से उत्पन्न और उसी के अन्तर्गत के प्रत्यय हैं। मानवीय सभ्यता के इतिहास में घटित हुए इस अभूतपूर्व समायोजन का बाइबिलीय उत्सम्भवतः 'ओल्ड टेस्टामेंट' के 'सृष्टि' शीर्षक आद्य ग्रन्थ की दो व्याख्याओं में है। प्रथम व्याख्या के अनुसार यह आदम (मनुष्य) के पतन की आख्यायिका है और दूसरे के अनुसार पतन से पूर्व मानव सरल चेतना-सम्पन्न प्राणी था। पशुओं की तरह पाप-पुण्य, लज्जा-सम्मान इत्यादि से शून्य। इस अवस्था से वह आत्मचेतना की ओर अग्रसर हुआ। तब उसकी आँखें खुलीं। उसमें अपनी नग्नता, पशुप्रायता का भान हुआ। उसमें लज्जा का, पाप-पुण्य का, अच्छे-बुरे की चेतना जाग्रत हुई और अन्ततः उसे परिश्रम करके जीविका चलाने और सभ्यता की प्राणप्रतिष्ठा करने को बाध्य होना



पड़ा। यह दूसरी व्याख्या मानव के पतन की नहीं, बल्कि उसकी स्वायत्तता, प्रगति और उत्कर्ष की कहानी है। यह कहानी आधुनिकता की मूल प्रवृत्ति की 'जेनेसिस' है, क्योंकि आत्मचेतना का विकास ही आधुनिकता के विकास का मानदंड है। हेगेल जिसे आधुनिकता और यूरोकेन्द्रित विश्व-दृष्टि का मूर्धाभिषिक्त प्रवक्ता माना जाता है, वह भी यूरोप को विशेषाधिकार और शीर्षता 'आत्मचेतना' की उच्चतम अवस्था के रूप में ही देता है। अतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिक पश्चिम अपनी मूल आकृति में स्वायत्त और सार्वभौम बुद्धि की आधारशिला पर विज्ञान, तकनीक एवं प्रोटेस्टेंट क्रिश्चियन विश्व-दृष्टि का एक ऐसा गठबन्धन है, जिसने आज एक विश्व-सभ्यता, सभ्यता का सार्वभौम आकार ग्रहण कर लिया है। पूरे विश्व को अपने इस लौकिकीकृत विश्व-दृष्टि में समाहित कर लेना इसका विश्वव्यापी मिशन है।

वस्तुतः राजीव मल्होत्रा की पुस्तक में किए गए तुलनात्मक विमर्शों की यही वास्तविक जमीन है। यहीं से पाश्चात्य सार्वभौमिकता को भारतीय चुनौती अर्थात् पश्चिम विरोधी भारत का सांभ्यतिक प्रतिमान गढ़ने का उपक्रम साधा जा सकता है। यही वह जमीन है, जहाँ वैज्ञानिक पश्चिम का धार्मिक चेहरा सामने आता है। यही वह पश्चिम है, जो राजीव जी के अनुसार बन्धु समरूपता के बदले ऊपरी समरूपता, आत्मसात् करने के बदले एकत्वरेषन द्वारा हड़प लेना, म्युच्युअल रिसपेक्ट के बदले म्युच्युअल टॉलरेन्स, सर्वधर्म समभाव के बदले धर्मनिरपेक्षता की दोहरी नीति की भाषा बोलता है। ईसाइयत की ऐसी सांभ्यतिक राजनीति की शुरुआत तो तब से ही हो गई थी, जब कान्सटेंटाइन के समय में यह राजधर्म बना था। तब से इसने सैकड़ों अपने देशज धार्मिक प्रणालियों को तो टॉलरेट कर ही नहीं पाया, बल्कि उन्हें विनष्ट ही कर दिया। अतः ऐसे धर्म से दूसरे धर्म के प्रति टॉलरेन्स की भी अपेक्षा नहीं की जा सकती है। म्युच्युअल रिसपेक्ट तो बहुत दूर की बात है। प्रकारान्तर से इस प्रकार के आक्षेप सनातन धर्म के शास्त्रीय और महान परम्परा तथा देशज एवं लघु परम्परा के अन्तर के आधार पर भी कुछ भोथरे तर्कों के द्वारा लगाए जाते हैं। परन्तु इस दोषारोपण में जिस तथ्य को नजरअंदाज कर दिया जाता है वह है—परिमार्जन, अनुकूलन, सात्मीकरण, संस्कृतिकरण और सातत्य। इन पाँचों के प्रकार्यात्मक अन्तःसम्बन्ध ने सनातन धर्म और संस्कृति को जो जीवन्तता और तादात्म्य बोध प्रदान किया है, वह ईसाइयत में कभी थी ही नहीं। अतः पश्चिमी विचारक एवं धर्ममीमांसक, जिनके लिए एक ईश्वर, एक धर्मग्रन्थ एवं एक पूजा की पद्धति का समीकरण धर्म को परिभाषित करता है, वे भारत की महान परम्परा एवं लघु परम्परा के मध्य अनुस्यूत एकता को समझ ही नहीं पाते हैं। उनके लिए तो जितने विश्वास, ईश्वर, पूजा-पद्धति एवं धर्म की पुस्तकें होंगी, उतने ही पृथक्-पृथक् धर्मों का अस्तित्व होगा। जबकि सनातन परम्परा में यह सब कुछ एक कुल की भाँति है। यह बात अलग है कि आज की स्थिति में यह

कुलकता आधुनिकता एवं हितपरक राजनीति के कारण किंचित् विद्रूप हो रही है और अपने पृथक् अस्तित्व की राजनीतिक-रणनीति के तहत स्वतन्त्र पहचान के लिए आन्दोलित भी है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि अनेक अनुभवों में ऐसे समूहों को उस पददलन का शिकार भी होना पड़ता है जो वास्तव में इनके पश्चिमी पैरोकारों की रणनीति का ही हिस्सा हुआ करता है।

सनातन धर्म का अभूतपूर्व वैशिष्ट्य यह है कि इसमें जीववाद, जीवित सत्तावाद, मानावाद, बहुदेववाद, एकेश्वरवाद, सविकल्पक उपासना-पद्धति, निर्विकल्पक उपासना-पद्धति, ईश्वर-प्राप्ति के ज्ञान, भक्ति एवं कर्म मार्ग, ईश्वर की स्वजन के रूप में उपासना, जगत् के स्वामी के रूप में उपासना और जगत् के मूल कारण के रूप में उपासना आदि-आदि बिना किसी टकराहट के सकलता के साथ समाविष्ट हैं। इसी कारण सनातन परम्परा में पूजा एवं विश्वास की पद्धति आरोपित एवं रूढ़ हुई एकरूपता नहीं है। फलतः सामी परम्परा के विश्लेषक को सनातन परम्परा में कर्मकांड एवं बाह्य आडम्बर का बाहुल्य ही दिखाई पड़ता है। वास्तव में जबकि सनातनी पूजा-पद्धति व्यक्ति को अपनी चेतना और संस्कार के समायोजन के आधार पर उसके लिए जो कुछ भी श्रेय और प्रेय है, यहाँ तक कि जो त्याज्य है वह ईश्वर से माँगने तथा उसे अर्पित करने का अवकाश प्रदान करती है। यहाँ पूजा-पद्धतियों का मानकीकरण और ऊपर से आरोपण नहीं है। इसी कारण यदि कोई निष्पक्ष प्रेक्षक सनातन परम्परा के अनुगामियों के धार्मिक जीवन और उसके विकास को देखने की कोशिश करे तो वह पाएगा कि व्यक्ति की अवस्था एवं चेतना के उत्तरोत्तर विकास के क्रम में उसकी पूजा-पद्धति में बदलाव होता है। यह बदलाव अन्ततः उस ब्रह्माण्डीय चेतना की अनुभूति की ओर होता है, जिसका अभिन्न अंश वह स्वयं और यह ब्रह्मांड है और जो अपने सम्पूर्ण स्वरूप में ईश्वरीय चेतना के ही विविध स्वरूप हैं। इसके उलट ईसाई परम्परा में व्यक्ति की चेतना, ब्रह्मांडीय चेतना एवं ईश्वरीय चेतना के मध्य न तो कोई सेतु है और न ही इन चेतनाओं से व्यक्ति के साक्षात्कार की कोई प्रणाली है। राजीव जी इसी को बहुविध निष्पत्तियों के साथ 'इतिहास केन्द्रीयता' कहा है। सचमुच इस इतिहास केन्द्रीयता की कैसी विडम्बना है कि इस परम्परा के ग्रन्थ, संस्थाएँ, बाह्य प्रतीक इत्यादि किसी प्राकृतिक आपदा के वश मिट जाएँ तो उनका पुनर्निर्माण नहीं हो सकता। हाँ ईश्वर चाहे तो इनका पुनर्निर्माण नए सिरे से कर सकता है। जबकि सनातन परम्परा में योग, ध्यान इत्यादि के द्वारा चेतना के उच्चस्तर पर आरूढ़ होकर सब कुछ साक्षात्कार योग्य हैं। अतः निष्कर्षात्मक रूप से यह कहना उचित होगा कि सनातनी मन और उसकी साधना-पद्धति उर्ध्वमुखी रूप से विकसित होने के कारण सोपान-क्रम से विभेदों को नकारती हुई उस एकत्व की अनुभूति की ओर उत्तरोत्तर आरोहण करती है, जिसे राजीव मल्होत्रा ने उचित ही 'सन्निहित एकता' के प्रतिमान से अभिहित किया है।

वस्तुतः इस पुस्तक में बहुत-सी अतिरंजनाओं के बावजूद कम-से-कम 'सन्निहित एकता' और 'इतिहास केन्द्रिकता' दो ऐसी व्यापक अवधारणाओं को पुनर्गठित किया गया है, जो पूर्वी एवं पश्चिमी धर्मबोध और तन्मूलक दोनों के सांभ्यतिक दृष्टिकोण का द्वैराश्यात्मक तुलनात्मक अध्ययन के लिए व्यापक आधार प्रदान करती हैं। भारतीय धर्म एवं दार्शनिक परम्पराओं की शास्त्रीय शब्दावलियों में 'सन्निहित एकता' की आत्मगवेषणा बहुविध रूप से और मुखर रूप से प्राप्त होती है, लेकिन राजीव जी ने अपने इन नवीन पदावलियों के द्वारा उस विचार को आधुनिक मानस के लिए सम्बोध्य बनाया है। साथ-ही-साथ पश्चिम की 'इतिहास केन्द्रिकता' जिसकी परिणति वे 'कृत्रिम एकता' में दिखाते हैं, वह पश्चिम की परम्परा में अन्तर्निहित तो है, लेकिन उसे मुखर रूप से आलोचित नहीं किया गया है। अतः राजीव जी ने इस पुस्तक के माध्यम से पश्चिम के अनालोचित पक्ष को आलोचित कर उसे समझने का एक नया ही प्रतिमान प्रस्तुत किया है।

## ‘गाँधी-विमर्श’ : एक सार्थक हस्तक्षेप

डॉ. नरेश कुमार अम्बष्ट\*

सुधांशु शेखर द्वारा रचित पुस्तक गाँधी-विमर्श में उद्घेलित करने की इतनी अधिक शक्ति है कि दीर्घ अन्तराल के बाद प्रतिक्रिया लिखने के लिए विवश अनुभव कर रहा हूँ। वस्तुतः यह पुस्तक गाँधी विचार के अकूत अपरिमित सामर्थ्य सोच की विविध खिड़कियों एवं झरोखों को इस तरह खोलती चली जाती है कि किसी कोने में दुबककर कछुआ बनना सम्भव नहीं रह जाता है। इसमें कई समकालीन विमर्शों में गाँधी-दृष्टि से हस्तक्षेप कर हम सबको बहुत कुछ सोचने के लिए विवश किया गया है। इस तरह लेखक ने अपनी प्रतिभा की बंदौलत गाँधी-साहित्य को एक नई ऊँचाई देकर इसे गौरवान्वित किया है। इससे उन लोगों को भी जवाब मिल गया है, जो यह पूछते हैं कि क्या आज का युवा महात्मा के आदर्शों, मूल्यों और जीवन जीने की कला को समझ पा रहे हैं? मुझे पूरा विश्वास है कि हमारी नई पौध वंचित नहीं रहेगी—गाँधी को जानने एवं समझने से और वह उनके दिखाए गए मार्ग पर चलने से भी पीछे नहीं हटेगी।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम अध्याय ‘राष्ट्र’ है, जो काफी प्रासंगिक है। वास्तव में राष्ट्र का व्यापक स्वरूप आज कहीं खो गया है। गाँधी के अनुसार भारत सदियों से एक राष्ट्र रहा है और नस्लगत एवं धर्मगत विभिन्नता इसकी राष्ट्रीयता को बाधित नहीं करते हैं।

दूसरे अध्याय का शीर्षक ‘सभ्यता’ है। इसके अन्तर्गत गाँधी की सभ्यता-दृष्टि को स्पष्ट किया गया है। हम जानते हैं कि गाँधी का सम्पूर्ण जीवन-दर्शन सभ्यतामूलक प्रश्नों से जुड़ा हुआ है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्राकृतिक सम्पदाओं और मानव संसाधनों की प्रचुरता के कारण भारत को ‘सोने की चिड़िया’ कहा जाता था। मगर, पश्चिमी सभ्यता से मोहित इतिहासकारों ने इसे संन्यासियों, धर्मान्धों, भिखारियों एवं असभ्यों का देश करार दिया। गाँधी ने इस औपनिवेशिक इतिहास-दृष्टि को भी कड़ी

\* प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, पी.के. राय मेमोरियल कॉलेज, धनबाद (झारखंड)

चुनौती दी। उन्होंने अपनी कालजयी पुस्तक 'हिन्द-स्वराज' में यह घोषित किया कि भारत अंग्रेजों के पहले से ही एक राष्ट्र रहा है और इसकी सभ्यता दुनिया में श्रेष्ठ है। उन्होंने यह बताया कि पश्चिमी सभ्यता शैतानी सभ्यता है और यह बिगाड़ करने वाली है। इस तरह गाँधी भारतीय सभ्यता के कायल थे, लेकिन उन्हें पश्चिम की अच्छाइयों को अपनाने से गुरेज नहीं था। इसके विपरीत भारतीय सभ्यता में देश-दुनिया के कल्याण का भाव निहित है। लेखक ने ठीक ही लिखा है, “गाँधी की सांस्कृतिक दृष्टि जड़ता एवं आत्ममुग्धता से मुक्त थी। वे किसी भी मायने में पुरातनपन्थी या पुनरुत्थानवादी नहीं थे और उन्हें बहुसंस्कृतिवाद से भी विरोध नहीं था। वे तो बस इतना चाहते थे कि हम जो भी करें, वह मनुष्य एवं मनुष्यता के व्यापक हितों को ध्यान में रखकर करें।” (पृ. 36)

तृतीय अध्याय का शीर्षक 'धर्म' है, जो समसामयिक सन्दर्भों में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। हम जानते हैं कि गाँधी राजनीतिज्ञ के वेश में मूलतः एक धार्मिक व्यक्ति थे। उनके लिए धर्म व्यक्तिगत एवं सामाजिक, दोनों के मुक्ति का माध्यम था। वे धर्म और राजनीति में अन्तर्विरोध नहीं मानते थे। इसलिए वे धर्म को व्यापक अर्थ में ग्रहण करके करोड़ों आम लोगों को राजनीति में लाये। सम्राट अशोक ने अपने एक शिलालेख में कहा था, “धर्म को लेकर मत झगड़ो, समझौता की ही सराहना करो। यह मत समझो कि तुमने सम्पूर्ण सत्य पर अधिकार कर लिया है, किसी भी धर्म का सत्य पर एकाधिकार नहीं है, तुम्हें उस ईश्वर को जानने की कोशिश करनी चाहिए, जो विभिन्न धार्मिक मार्गों और विभिन्न लोकोत्तर व्यक्तियों में अभिव्यक्त सभी दिव्यताओं से ऊपर है।” गाँधी धर्म को इसी रूप में मानते थे और इसका यही रूप हमारे संविधान में स्वीकार किया गया है। इसमें कहा गया है कि भारत का प्रत्येक नागरिक तब तक अपने धर्म की शिक्षा देने, मानने और प्रचार करने के लिए स्वतन्त्र है, जब तक वह अन्य लोगों के विश्वास को आघात नहीं पहुँचाता है। जो सम्प्रदाय धर्म-परिवर्तन में विश्वास करते हैं, वे परोक्ष रूप से ऐसा मानते हैं कि उनका धर्म ही एक मात्र धर्म है, उनका पन्थ ही सर्वोत्तम है। यही कारण है कि वे अन्य धर्मावलम्बियों को पथ से च्युत कराकर उन्हें अपना मार्ग दिखाते हैं। आज धरती सिमटकर छोटी-सी बन गई है और एक छोटी-सी हलचल भी सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित करती है, तब धर्मों की हठवादिता और आपसी कलह से मानवता की सुख-शान्ति को अत्यन्त खतरा है। इसलिए आज हमें स्वस्थ विचारों को अपनाना आवश्यक है।

गाँधी मानते थे कि सभी धर्म सही और सच्चे हैं। सभी धर्मों में थोड़ी-बहुत बुराईयाँ हैं। सभी धर्म उनके लिए अपने हिन्दू धर्म के समान ही प्रिय हैं। उनका कहना है कि हर व्यक्ति को दूसरे धर्म की अच्छाइयों को ग्रहण करना चाहिए और अपने धर्म के दोष को दूर करना चाहिए। दूसरे धर्म के समादर का अर्थ उसके दोषों का समादर नहीं है और न ही अपने धर्म के प्रति आदर का मतलब उसके दोषों को छिपाना है।

गाँधी धर्म को कमोबेश एक जीवन-शैली के रूप में लेते थे और इस रूप में धर्म एक निजी विषय हो जाता है; क्योंकि किसी भी जीवन-शैली के चुनने के लिए मनुष्य बिल्कुल स्वतन्त्र होता है। इसलिए उसे अपनी पसन्द, अपनी रुचि के अनुसार अपना धर्म चुनने की छूट होनी चाहिए। गाँधी के शब्दों में, “धर्म एक ही बिन्दु पर मिलने वाले भिन्न-भिन्न रास्ते हैं। यदि अन्त में हम एक ही लक्ष्य पर पहुँचते हैं, तो अलग-अलग रास्ते पर चलने में हर्ज क्या है? वास्तव में जितने लोग हैं, उतने ही धर्म हैं।” पृ. 42

चतुर्थ अध्याय ‘राजनीति’ पर है। इससे सम्बन्धित गाँधी के विचारों की आज अत्यधिक जरूरत है। भारत में विशेषकर सन् 70 के बाद से राजनीतिक स्थिति बिगड़ती ही चली गई। वर्तमान राजनीति में नैतिक संकट है। आजादी के बाद सार्वजनिक जीवन में विद्वान एवं सच्चरित्र लोग राजनीति में सक्रिय थे, वे सामान्यः भद्र लोग थे। 1960-70 के बीच ऐसे लोगों की कमी राजनीति में आई। दुर्भाग्य से 1970 के बाद हमारे राजनेता भ्रष्ट, जातिवादी, सम्प्रदायवादी तथा अराजक हो गए। ऐसे नेताओं की संख्या इतनी है कि आश्चर्य होता है। लगता है कि सारी व्यवस्था भ्रष्ट हो गई है। सत्ताधारियों, सत्तालोलुपों और सत्ता के दलालों ने हमारे संविधान की धजियाँ उड़ा दी हैं। आज नेता जिस पार्टी की भर्त्सना करते हैं, उसी में शामिल होकर कुर्सी ले लेते हैं। न तो ये राजनेता वामपन्थी हैं, न तो दक्षिणपन्थी। ये मात्र भ्रष्टपन्थी हैं। चुनाव में करोड़ों खर्च होता है, जो आम कार्यकर्ता सोच नहीं सकता। सत्ता के संघर्ष में क्षेत्र, धर्म, जातियों और उप-जातियों के नाम पर वोट बैंक बनाए जाते हैं। विकास के नाम पर धन कुबेरों को मदद पहुँचाई जाती है। संविधान की दुहाई देने वाले लोग संविधान के मूल आधारों को छिन्न-भिन्न कर रहे हैं। दंगे करवाए जाते हैं, ताकि वोट का धुंधीकरण हो जाए। मैं विनम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि हम राष्ट्र-निर्माताओं की शिक्षाओं एवं कृतित्व को समझने का प्रयास करें। सभी संकीर्ण दृष्टिकोण तथा स्वार्थपूर्ण राजनीति त्यागकर राष्ट्रीय हितों के बारे में सोचें। सच्चे अर्थ में लोकतन्त्र में आस्था रखने वाले व्यक्तियों को किसी प्रकार के भ्रष्टाचार को, भाई-भतीजावाद को और जातीय पूर्वाग्रहों और दंगे-फसाद बर्दाश्त नहीं करना चाहिए।

पाँचवाँ अध्याय ‘स्वराज’ पर है, जिसे हम गाँधी के जीवन का मूल लक्ष्य कह सकते हैं। गाँधी ने भारत के करोड़ों लोगों को राजनीति की शिक्षा दी, अहिंसा और सत्याग्रह के माध्यम से आजादी प्राप्त करने की दीक्षा दी। उनकी सोच स्पष्ट थी कि हिन्दुस्तान को यदि आजादी प्राप्त करनी है, तो यहाँ के आम जनजीवन को भयमुक्त होना होगा। उनका प्रयत्न यह था कि देशी राजाओं, जमींदारों तथा साम्प्रदायिक नेताओं को अलग करते हुए कांग्रेस को आम जनता का प्रतिनिधि बनाएँ।

छठा अध्याय ‘शिक्षा’ पर है, जो आज सबसे महत्वपूर्ण विषय है। कई इतिहासकारों का कहना है कि मैकाले ने भारत में दलितों, शूद्रों, स्त्रियों आदि वंचित

तबकों को शिक्षित होने का अवसर प्राप्त कराया। इस दृष्टि से अँग्रेजी शिक्षा ने 'बहुजन समाज दर की मुक्ति का द्वार खोला।' लेकिन, गाँधी का कहना है कि अँग्रेजी शिक्षा ने पूरे भारतीय समाज को गुलाम एवं आत्महीन बना दिया। उन्होंने भौतिकवाद को बढ़ावा देने वाली नीतिविहीन अँग्रेजी शिक्षा के बरक्स प्राचीन भारतीय मूल्यों को केन्द्र में रखकर बुनियादी शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। गाँधी के इन विचारों की आज अत्यधिक प्रासंगिकता है। क्योंकि लेखक के शब्दों में, "आज की शिक्षा-व्यवस्था सूचनाओं के बोझ से लदे 'गंधे' एवं दूसरों का गला काटकर आगे बढ़ने वाला प्रतिस्पर्धी और येन-केन प्रकारेण सफलता पाने को उतावला मुन्ना भाई तो पैदा कर रही है, लेकिन शिक्षित, संवेदनशील और सृजनशील 'मनुष्य' बना पाने में नाकामयाब रही है।" (पृ. 75)

सप्तम अध्याय का शीर्षक 'स्त्री' है। आधुनिक भारतीय इतिहास में गाँधी ने स्त्री-सशक्तीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उन्होंने स्त्रियों पर लगाए गए सभी अमानवीय प्रतिबन्धों का विरोध किया और उन्हें समाज एवं राजनीति की मुख्यधारा में लाने हेतु हरसम्भव कोशिश की। लेकिन वे इस बात के प्रति हमेशा सजग रहे कि स्त्रियों की निजता एवं मौलिकता बची रहे। दुर्भाग्य से गाँधी के बाद का भारत उस ओर समुचित ध्यान नहीं दे पा रहा है। यही कारण है कि आज पुरुष से संघर्ष कर अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के क्रम में स्त्रियाँ पुरुषों का हस्यास्पद अनुकरण करने में और उससे बदला लेने में लगी हुई हैं। लेखक इसकी आलोचना करते हैं और 'पलायन' एवं 'प्रतिक्रिया' की बजाय 'परिवर्तन' का मार्ग सुझाते हैं, उनका कहना है, "किसी दूसरे को गुलाम और कमजोर बनाकर कोई स्वयं मुक्त और मजबूत नहीं हो सकता है।" (पृ. 84)

आठवें अध्याय में दलित की चर्चा है। आधुनिक भारतीय समाज में दलित-मुक्ति एक ज्वलन्त मुद्दा रहा है। भारत को यदि सबल विकसित होना है, तो इसे किसी खास समूह को खुश करना नहीं, बल्कि कानून और सामाजिक, आर्थिक व्यवहार में सभी नागरिकों का ख्याल रखना होगा। इसके विपरीत सोचने वाले अलगाववादी एवं संकीर्णतावादी सोचवालों पर तरस आती है, वे बेहद अज्ञानी हैं। उन्हें यह मालूम ही नहीं है कि दुनिया ने आज जो तरक्की की है, उसमें सहिष्णुता, उदारता और वैज्ञानिकता का कितना बड़ा योगदान है। गाँधी के बताए रास्ते से ही मनुष्य निर्भय होकर विकास की सच्ची पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। भारतीय समाज में यह स्वीकृत तथ्य है कि आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति चाहे जो भी हो, चरित्र शुद्ध है, तो व्यक्ति श्रेष्ठ हो जाता है, फिर वह किसी जाति या धर्म का क्यों न हो। रैदास इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं। इसमें गाँधी की भूमिका काफी महत्वपूर्ण एवं अत्यन्त विवादित भी रही है। खासकर गाँधी-अम्बेडकर का विवाद काफी चर्चित रहा है। इस पुस्तक में इस पर गम्भीर टिप्पणी की गई है। लेखक के शब्दों में, "गाँधी का सर्वोदय (सबों का

उदय) अन्त्योदय (अन्तिम व्यक्ति का उदय) था, जिसे भारतीय सन्दर्भ में दलितोदय (दलितों का उदय) कहना युक्तियुक्त जान पड़ता है। इसी तरह डॉ. अम्बेडकर का सामाजिक न्याय दलितोत्थान को प्राथमिकता देने के बावजूद वास्तव में मानववाद का पर्यायवाची है। इस तरह समग्रता में देखने पर गाँधी-अम्बेडकर एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नहीं, पूरक साबित होते हैं।” (पृ. 93)

नवाँ अध्याय है—स्वास्थ्य। गाँधी ने कहा था कि “एक हद तक शारीरिक सुविधा और आराम का होना जरूरी है, लेकिन उससे आगे बढ़ने पर ये सुविधाएँ और आराम सहायक बनने की बजाय हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक बन जाते हैं... मनुष्य को अपने शारीरिक सुखों और सांस्कृतिक सुविधाओं की ऐसे ढंग से व्यवस्था करनी चाहिए कि वे उसकी मानव-सेवा में बाधक न बनें। मनुष्य की सारी शक्तियों का उपयोग मानव-सेवा में ही होना चाहिए। लेकिन आधुनिक चिकित्सा पद्धति सेवा नहीं, व्यापार बन गई है। इसके तथाकथित उच्च डिग्रीधारी डाक्टर भी पैसे की लालच में मानव स्वास्थ्य से खिलवाड़ करते हैं और मानव अंगों की तरक्की जैसे घृणित कार्यों में संलिप्त पाए जाते हैं। एक खास बात यह भी है कि आधुनिक चिकित्सक आविष्कारों का लाभ मुट्ठी भर अमीरों तक सीमित है। और आम लोग तो जीवनरक्षक दवाओं के लिए भी तरसते हैं। ऐसे में लेखक का कहना उचित ही है कि न केवल आधुनिक चिकित्सा प्रणाली की विफलताओं के मद्देनजर, वरन् सच्चे स्वास्थ्य की प्राप्ति की दृष्टि से भी ‘सारा जीवन उच्च विचार का भारतीय (गाँधीय) सूत्र अनुपालनीय है। (पृ. 103)

दसवाँ अध्याय ‘प्रौद्योगिकी’ है। गाँधी न तो विज्ञान-विरोधी थे और न ही प्रौद्योगिकी के दुश्मन। वे तो बस इतना चाहते थे कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी मनुष्य एवं चराचर जगत की सेवा का माध्यम बने और यह प्रकृति-पर्यावरण का द्रोही न हो। नैतिकता और आध्यात्मिकता से रहित मानव समाज दिशाहीन हो गया है। भौतिकता के दौड़ में नैतिकता, मूल्य व दर्शन निरर्थक प्रतीत होने लगा है। गाँधी यहाँ इसका मुखर विरोध करते हैं। ‘गाँधी नैतिकता को भौतिक नियम की तरह ही अकाट्य मानते थे, पर ऐसे नैतिकता का स्तर भौतिकता के स्तर से ऊपर है। ‘महात्मा गाँधी ने जिसे वैकल्पिक सभ्यता का मॉडल पेश किया है, उसमें भौतिकता और नैतिकता का एक सन्तुलन है। लेखक के शब्दों में, “प्रौद्योगिकी के विकास के साथ आज मनुष्य पहले से ज्यादा अविकसित, असहाय एवं अस्वस्थ हो गया है। ऐसे में इस प्रौद्योगिकी का अस्वीकार और गाँधी-दर्शन का स्वीकार मनुष्य एवं मनुष्यता की रक्षा हेतु अपरिहार्य है। (पृ. 113)

ग्यारहवाँ अध्याय ‘पर्यावरण’ पर है। पर्यावरण की सुरक्षा के बगैर हमारा सारा विकास निरर्थक है। अतः विकास कार्यों की योजना बनाने एवं क्रियान्वित करते समय पारिस्थितिकीय एवं पर्यावरणीय दृष्टिकोण को अपनाने की आवश्यकता है। सम्प्रेषित



विकास ही नैतिक दृष्टि से उचित है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त 'विश्व पर्यावरण एवं विकास आयोग' द्वारा किया गया। आयोग द्वारा 1987 में प्रकाशित उसके अन्तिम रिपोर्ट में इसकी मूल अवधारणा 'हम सबका भविष्य' निर्धारित किया गया था। उसमें स्पष्ट रूप से उल्लेख है, कि आगामी पीढ़ी के लिए उनकी आवश्यकताओं को बिना प्रभावित किए वर्तमान के आवश्यकता की पूर्ति सुनिश्चित कर सकें। इस सन्दर्भ में गाँधी की भी मान्यता थी कि यह प्रकृति हम सबों की आवश्यक आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम है, लेकिन इसमें हममें से किसी एक के भी लोभ-लालच को पूरा करने का सामर्थ्य नहीं है। इसलिए उपलब्ध संसाधन का दोहन नहीं करते हुए पर्यावरण एवं सामाजिक न्याय की सुरक्षा मानव समाज का लक्ष्य होना चाहिए। तभी सम्पूर्ण विकास के लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। जैसा कि लेखक ने समाजवादी विचारक सच्चिदानन्द सिन्हा को उद्धृत करते हुए लिखा है, "... मनुष्य की नियति प्रकृति या वनस्पति जगत सहित अन्य प्राणियों पर विजय प्राप्त करना नहीं, बल्कि उसके साथ एक नए तरह का तादात्म्य स्थापित करना है। आज पर्यावरण की सुरक्षा, जो अन्य जीवों और वनों की रक्षा से जुड़ा है, मानव प्रजाति के स्वयं जीवित रहने की अनिवार्य शर्त दिखाई देने लगी है।" (पृ. 120)

बारहवाँ अध्याय 'विकास' पर है। आज हर कोई 'विकास' की बात कर रहा है, लेकिन सबों के मायने अपने-अपने हैं। हम देख रहे हैं कि आधुनिक पूँजीवादी सभ्यता चारों ओर सुशासन एवं विकास का ढिंढोरा पीट रही है। लेकिन, वास्तव में इसने दुनिया को अव्यवस्था एवं अविकास की ओर ढकेल दिया है। आज इसी की वजह से हम आर्थिक मन्दी, आतंकवाद एवं पर्यावरणीय असन्तुलन जैसी गम्भीर समस्याओं से जूझ रहे हैं। कुल मिलाकर पूँजीवादी सभ्यता ने सम्पूर्ण सृष्टि को विनाश के मुहाने पर पहुँचा दिया है। ऐसे में इस पूँजीवादी सभ्यता के मुकम्मल विकल्प की तलाश अपरिहार्य है। इस क्रम में मुख्य रूप से दो विकल्प सामने आते हैं—मार्क्सवाद और गाँधीवाद। इसमें मार्क्सवाद पूँजीवाद से उत्पादन के सम्बन्धों को लेकर अलग मत रखता है, लेकिन उत्पादन के साधनों को देखने पर दोनों में कोई खास अन्तर नहीं है। साथ ही मार्क्सवाद भी पूँजीवाद की तरह ही 'सर्वजन हिताय' और 'सर्वांगीण विकास' के मामलों में नाकामयाब साबित हुआ है। विशेषकर सोवियत संघ की नियति और चीन की नीति को देखकर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। इस त्रासद घड़ी में पूँजीवाद एवं मार्क्सवाद, दोनों के विकल्प के रूप में हमारा ध्यान गाँधीवाद की ओर जाता है। यह गाँधीवाद न केवल उत्पादन-सम्बन्धों, वरन् उत्पादन-साधनों के मामले में भी सर्वाधिक अनुकरणीय है। इसके आदर्शों, यथा—सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह एवं सर्वोदय आदि की प्रासंगिकता सार्वदेशिक एवं सर्वकालिक है। लेखक के अनुसार, "यह एक ऐसा मॉडल है, जिसमें सम्यक्, सन्तुलित एवं समग्र विकास की कल्पना है।

इसमें न केवल भौतिक या आर्थिक, वरन् सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विकास भी सन्निहित है।” (पृ.125)

अन्तिम तेरहवाँ अध्याय ‘भूमंडलीकरण’ पर है। आज हर ओर भूमंडलीकरण की चर्चा है। भूमंडलीकरण के रथ पर सवार होकर भारत ने आर्थिक प्रगति के मामले में प्रथम दस देशों की सूची में अपना स्थान बना लिया है। आर्थिक विकास सामाजिक विकास की एक मजबूत कड़ी है, परन्तु यह विकास का एक पक्ष मात्र है, जिसे विकास की आधार संरचना कही जाएगी। परन्तु इससे समाज का समावेशी विकास नहीं हो सकता है। समाज का समावेशी विकास तभी सम्भव होगा जब हमारा विकास आर्थिक के साथ-साथ सांस्कृतिक, नैतिक तथा मूल्यों पर आधारित होगा। यह भी सामाजिक विकास की अधिसंरचना है। सामाजिक विकास की दोनों संरचनाएँ साथ-साथ चलती हैं तभी समाज का समावेशी विकास सम्भव हो पाता है। समावेशी विकास का मुख्य उद्देश्य समाज के अन्तिम व्यक्ति, जो सीमान्त है, का सही अर्थों में विकास तथा उनकी जीवन-पद्धति में आमूल परिवर्तन है।

आधुनिक भारत में भूमंडलीकरण के युग में जब देश की लगभग आधी आबादी गरीबी रेखा के नीचे हो, जहाँ 78 करोड़ लोगों की दैनिक औसत आमदनी केवल 18 रु. प्रतिदिन की हो, जहाँ 6 करोड़ लोग विकास के नाम पर विस्थापित हो चुके हैं और साढ़े चार करोड़ खेतिहर मजदूर-बेरोजगार हो गए हों। भूख और कर्ज से इस कृषि प्रधान देश में लगभग दो लाख से ऊपर किसानों को आत्महत्या करनी पड़ी हो और 90 प्रतिशत सीमान्त वंचित और शोषित हैं, वहाँ सीमान्तों के प्रति नैतिकता के सम्बन्ध में अपने विचारों को न्यायपूर्ण परिवर्तन करना होगा। आज देश में आर्थिक विषमता 10 लाख गुना तक बढ़ गई है। महात्मा गाँधी का कहना था कि आजाद भारत में समाज के अंतिम व्यक्ति तथा सबसे पिछड़े क्षेत्र को विकसित होने का पर्याप्त अवसर मिलेगा और सभी नागरिक मर्यादापूर्ण जीवन-यापन के मौलिक अधिकार का उपयोग कर पाएँगे। किन्तु आजादी के 68 वर्षों के बाद भी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं बौद्धिक विषमता की बढ़ती खाई के कारण समावेशी विकास के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सके हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि समाजवाद बनाम पूँजीवाद, मुक्त बाजार तथा नियन्त्रित बाजार, सार्वजनिक या निजी उपक्रम, आदि आज के सन्दर्भ में दुविधा की स्थिति है। विडम्बना यह है कि हमारे युग का नेतृत्व इस सम्प्रभ की स्थिति से निकलकर कोई सम्यक् समाधान भी नहीं खोज पा रहा है। हम युगीन समस्याओं के स्थायी समाधान खोजने की बजाय, सिर्फ तात्कालिक हल ढूँढ़ते हैं और उससे श्रुतमुर्ग की तरह मुँह छीपाकर बच जाना चाहते हैं। इस तमाम विषयों पर गाँधी की एक सम्यक् दृष्टि थी, जिसे लेखक ने अपनी पुस्तक में स्पष्ट किया है। यह पुस्तक दूरगामी दुष्परिणामों के प्रति आगाह भी करता है तथा साथ ही हमारी युगीन समस्याओं का

गाँधी के विचारों के अनुरूप स्तरीय, स्थायी समाधान भी सुझाती है। अपने युग की चुनौतियों, समस्याओं के प्रति जागरूक रहकर यथोचित कार्यवाही करना प्रत्येक नागरिक का धर्म है, अन्यथा हमारी तटस्थता अक्षम्य अपराध ही होगी।

अन्त में अभिधेय है कि पूरी दुनिया आज हिंसा और आतंकवाद से ग्रस्त है या सोचने को बाध्य है कि अहिंसा का पाठ गाँधी ने पढ़ाया था, उस पर अमल करके ही विश्व शान्ति तथा अमन-चैन सुनिश्चित किया जा सकता है। गाँधी की प्रासंगिकता जो पिछली शताब्दी में थी, वह इस नई शताब्दी में भी क्रमशः बढ़ती जा रही है। यदि मानवता को सचमुच शान्ति और बन्धुत्व से रहना है तो गाँधी की ओर जाने के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं है। स्पष्टतः गाँधी को जानना, समझना एवं अपनाना अत्यधिक आवश्यक हो गया है। 'गाँधी-विमर्श' उस दिशा में एक उल्लेखनीय प्रयास है। बदलते परिवेश और परिस्थितियों में गाँधी-विचार को संवेदनाओं के साथ प्रस्तुत करने का यह साहसपूर्ण कदम प्रशंसनीय है। लेखक के रचना-शिल्प की यह खूबी रही है कि उन्होंने विभिन्न विषयों को समसामयिक समाज और परिवेश को ध्यान में रखकर चुना है और उसे तदनुरूप शिल्प में संयोजित करने का उपक्रम भी किया है। इस क्रम में वे 'गाँधी-विमर्श' के विभिन्न पहलुओं को स्वाभाविक एवं विश्वसनीय ढंग से उजागर करने में सफल हुए हैं; क्योंकि वे 'गाँधी-विचार' के विविध आयामों से परिचित हैं और इससे उनका न केवल सैद्धान्तिक, वरन् व्यावहारिक जुड़ाव भी है।

## हिन्दी नाटक : परम्परा एवं प्रवृत्ति

हितेन्द्र कुमार मिश्र\*

नाटक शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनी के अनुसार नट् धातु से हुई है। बेवर और मोनियर विलियम इसकी व्युत्पत्ति नृत धातु से मानते हैं। इनके अनुसार नाटक शब्द नृत धातु का ही प्राकृत रूप है। 'सिद्धान्त कौमुदी' के तिङन्त प्रकरण में नाट्य की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'नट् नृतौ। इत्थमेव पूर्वमपि पठितम्। तत्रांगविक्षेपः। पूर्वपठितस्थ नाट्यमर्थः। यत्कारिषं नटव्यपदेशः।' इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नट् धातु का प्रयोग गात्रविक्षेपण के अर्थ में होने लगा और नट् का प्रयोग अभिनय के अर्थ में।<sup>1</sup> नाटक शब्द के इन व्युत्पत्तिपरक सन्दर्भों से यह स्पष्ट होता है कि नाटक वह विधा है, जो गात्रविक्षेपण अर्थात् आंगिक अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत होती है और इसके प्रारम्भिक अभिनयकर्ता नट समुदाय के लोग ही थे।

हिन्दी नाटकों की परम्परा आधुनिक काल में भारतेन्दु से प्रारम्भ होती है, हालाँकि स्वयं भारतेन्दु ने अपने पिता गोपालचन्द्र गिरिधरदास के नाटक 'नहुष' को हिन्दी का पहला नाटक माना है। गोपालचन्द्र गिरिधरदास के 'नहुष' का रचनाकाल सन् 1841 ई. एवं 1859 ई. बताया जाता है। हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास लिखने वाले डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार इसका रचनाकाल सन् 1841 ई. है तो डॉ. रामचन्द्र तिवारी इसका रचनाकाल सन् 1859 ई. मानते हैं। इसका रचनाकाल चाहे जो भी रहा हो, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस नाटक की कथावस्तु गद्य और पद्य की मिश्रित शैली में लिखी गया है। इधर एक शोध के मुताबिक काठमांडु (नेपाल) से प्राप्त 'कृष्णचरितोपाख्यान' हिन्दी का पहला नाटक है। इस नाटक की रचना कब हुई, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु सन् 1835 ई. में रथयात्रा महोत्सव, सितम्बर माह में इसके मंचन के प्रमाण मिलते हैं। इस प्रमाण के आधार पर इसे सन् 1835 ई. या उससे पहले का रचित कहा जा सकता है। इस नाटक में मंगलाचरण के

\* एसोसिएट प्रोफेसर—हिन्दी विभाग पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग-793022

अलावा शेष अंश खड़ीबोली के प्राप्त होते हैं और यही तथ्य इस नाटक के सम्बन्ध में संशय भी उत्पन्न करता है। जिस खड़ीबोली को साहित्य भाषा के रूप में प्रस्तुत करने को लेकर भारतेन्दु युग में साहित्यकारों को संघर्ष करना पड़ा, उसके इतने सशक्त रूप की प्रस्तुति 'कृष्णचरितोपाख्यान' में मिलना उसकी प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। बहरहाल हिन्दी में नाटक की परम्परा भारतेन्दु या भारतेन्दु से पूर्व विद्यमान थी, इस बात में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

नाटकों की परम्परा भारतीय साहित्य में अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रारम्भ हुई। कतिपय विद्वान हिन्दी नाटकों में प्रमुखता से व्यवहृत यवनिका (पदी) के आधार पर इसका सम्बन्ध यवन से जोड़ते हुए इसे यूनानी उत्पाद मानते हैं। जबकि "स्वयं यूनानी नाटकों में पर्दे का प्रचलन नहीं था, अतः यवनिका का संबंध यूनानी नाटकों से स्थापित करना घुणाक्षर न्याय मात्र है। हमारे यहाँ नाटक अंकों में विभाजित होते हैं, जबकि यूनानी नाटकों में अंक नहीं होते, वहाँ केवल दो दृश्यों में अन्तर लाने के लिए सम्मिलित गान (Chorus) का आयोजन कर दिया जाता था।"<sup>2</sup> भारत में नाटकों का अस्तित्व उत्तरवैदिक काल से ही प्राप्त होता है, जबकि उस समय तक यूनानी नाटक का कहीं अता-पता ही नहीं था। इस आधार पर हिन्दी नाटक का यूनानी सम्बन्ध कल्पना प्रसूत एवं आधारहीन प्रतीत होता है।

भारतीय परम्परा में नाटक का इतिहास बहुत पुराना है। भारतीय परम्परा से आशय भारत में उत्पन्न और भारतीय सन्दर्भों में विकसित परम्परा से है। नाटक को भारतीय परम्परा में पंचम वेद कहा गया है। भारतीय वाङ्मय में नाटक की विधिवत चर्चा भरत के 'नाट्यशास्त्र' (तीसरी शताब्दी ई.पू.) से प्रारम्भ होती है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' के अलावा धनंजय के 'दशरूपक' एवं आचार्य विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' में भी नाटक की चर्चा प्राप्त होती है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' के दसवें-ग्यारहवें श्लोक के अनुसार इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्मा से एक ऐसे मनोविनोद के साधन की सृष्टि का अनुरोध किया जो दृश्य एवं श्रव्य होने के साथ-साथ चारों वर्णों का मनोरंजन कर सके।<sup>3</sup> नाट्य रचना से जुड़ा यह तथ्य नाटक के जन्मना मनोरंजक वृत्ति की ओर संकेत करता है। नाट्यशास्त्र के ही बारहवें-तेरहवें श्लोक के अनुसार ब्रह्मा ने चारो वेदों का स्मरण करते हुए नाटक जैसे पंचम वेद की रचना की।<sup>4</sup> भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार चारों वेदों की रचना करने के उपरान्त इन्द्र के निवेदन पर समस्त जन के मनोरंजनार्थ ब्रह्मा ने ऋग्वेद से कथ्य, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय एवं अथर्ववेद से रस तत्त्व निकालकर नाट्यवेद नामक पंचम वेद की रचना की।<sup>5</sup> उन्होंने कहा कि यह पंचम वेद नाटक धर्म, अर्थ तथा यश की प्राप्ति के साथ उपदेश देने वाला एवं सभी कर्मों का अनुसरण करने वाला होगा। यह नाट्यवेद नृत्य, गीत, वादन आदि तत्त्वों से परिपूर्ण होगा। यह दुःख, श्रम एवं शोक से आर्त लोगों को विश्राम देने वाला

तथा धर्म, यश और आयु को बढ़ाने के साथ ही बुद्धिवर्धक एवं उपदेश देने वाला होगा।<sup>6</sup>

नाटक के उद्भवकालीन प्रारम्भिक प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मा द्वारा रचित नाट्यवेद के अभिनय की जिम्मेदारी इन्द्र द्वारा असमर्थता व्यक्त करने के उपरान्त भरत मुनि को सौंपी गई। नाटक में स्त्री-चरित्रों के अभिनय हेतु ब्रह्मा ने ही अप्सराओं की रचना की। बड़े उद्यम के उपरान्त नाटक और नाट्य कर्मियों की सृष्टि हुई। भारतीय वाङ्मय के अनुसार प्रथम अभिनीत नाटक 'असुरपराजय' को माना जाता है। 'असुरपराजय' खुले रंगमंच में अभिनीत नाटक था। इस नाटक के अभिनय में असुरों ने व्यवधान उत्पन्न किया तदुपरान्त एक बन्द नाट्यशाला की आवश्यकता महसूस हुई। दूसरे अभिनीत नाटक के रूप में 'अमृतमन्थन' नामक नाटक का प्रमाण मिलता है। 'अमृतमन्थन' नटों द्वारा अभिनीत नाटक था। नटों के सफल अभिनय से प्रसन्न होकर शिव ने उन्हें अपना नृत्य सिखाया। भारतीय परम्परा में नाटकों के विकास का यही वृत्तान्त प्राप्त होता है। आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' में ऐसे ही वृत्तान्तों के माध्यम से रंगशालाओं के आकार-प्रकार के मानक भी स्थिर किए गए मिलते हैं। 'नाट्यशास्त्र' के दूसरे अध्याय में पहले पाँच श्लोक नाट्य मंडप के आकार-प्रकार से सम्बन्धित हैं। इसमें 108, 64 और 32 हाथ के लम्बाई की रंगशालाएँ निर्मित करने की बात की गई है जिसके तीन हिस्से थे—प्रेक्षागृह, रंगपीठ या रंगशीर्ष और नेपथ्य। इसप्रकार भारतीय परम्परा में नाटक की प्राचीनता उसे वेदोत्तर काल तक ले जाती है।

भारतीय परम्परा में नाटक का व्यवस्थित स्वरूप संस्कृत नाटकों से प्रारम्भ होता है। संस्कृत के महान रचनाकार कालिदास नाट्य साहित्य के शीर्ष रचनाकार हैं। उनके 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' और 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ नाटकों में से एक हैं। हर्ष के नाटक 'नागानन्द' और 'रत्नावली' इतिहास प्रसिद्ध नाटक हैं। नाटक दृश्य एवं श्रव्य विधा होने के कारण साहित्य की अन्य गद्य विधाओं की अपेक्षा मनुष्य के चित्त पर गहरा प्रभाव अंकित करता है। नाटक की सामाजिक मान्यता सांसारिक वस्तु के रूप में की जाती है। शायद इसी कारण संन्यासियों को नाटक देखने से वर्जित भी किया जाता है। विनय पिटक के अनुसार बौद्ध समय में अश्वजीत और पुनर्वसु नामक बौद्ध भिक्षुओं को नाटक देखने के कारण ही बौद्ध विहार से निष्कासित (प्रव्राजनीय दंड) कर दिया गया था। ऐसा कहा जाता है कि एक बार ये दोनों भिक्षु किसी रंगशाला में नाटक देखने गए थे और दोनों नर्तकी के नृत्य अभिनय से इतने अभिभूत हो गए कि अपना महत् उद्देश्य भूल गए और इन्होंने नर्तकी के सामने मधुर आलाप करना प्रारम्भ कर दिया। इन भिक्षुओं के इस कृत्य की सूचना मिलने पर इन्हें बौद्ध विहार से निष्कासित कर दिया गया। इसी प्रकार जैन

कथाओं में जड़ प्रकृति के साधुओं की सूची में नाटक देखने वाले एक साधु का उल्लेख मिलता है। भले इस समय में साधना के क्षेत्र में नाटक को बाधक के रूप में प्रस्तुत किया गया हो, किन्तु इस समय में नाटक की उपस्थिति और समाज पर उसके गम्भीर प्रभाव का प्रमाण मिलता है।

पाणिनी ने अपने अष्टाध्यायी में लगभग 400 ईसा पूर्व के आस-पास काशाश्व और शिलालिन नामक नट सूत्रकारों का उल्लेख किया है। पतंजलि के 'महाभाष्य' में भी अनेक नाटकों, नाट्य प्रकरणों एवं नाटकों पर आश्रित कर्मियों (नाट्याचार्यों एवं रूपाजीवा नारियों) के दीनदशा की चर्चा मिलती है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी नाटक के संकेत प्राप्त होते हैं। महाभारत एवं पुराणों के रचनाकाल में भी नाट्य तत्त्वों के संकेत प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारत में नाटकों की प्राचीन एवं समृद्ध परम्परा रही है। हिन्दी नाट्य साहित्य के विश्वस्त अध्येता डॉ. दशरथ ओझा के अनुसार 'तेरहवीं शताब्दी में एक ओर तो कणहप काल से चली आने वाली स्वाँग की परम्परा थी, जिसके नाटक डोम और डेमिनियों द्वारा अभिनीत होते थे, दूसरी परम्परा रास की थी, जिसका अभिनय बहुरूपिए अथवा जिनसेवक किया करते थे। पहली परम्परा समाज में उतनी समादृत न थी, जितनी की दूसरी। यह दूसरी परम्परा ही मध्यमवर्ग और धार्मिक जनता का मनोरंजन तथा रुचि का परिमार्जन कर रही थी। बहुरूपियों द्वारा नाटकों का अभिनय मन्दिरों के बाहर होता था, किन्तु जैन मन्दिरों में अभिनयकर्ता जैन धर्म के सेवक हुआ करते थे।'<sup>7</sup> अर्थात् भारतीय नाट्य परम्परा में संस्कृत के साथ-साथ लोक की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इन लोकधर्मी नाट्य परंपराओं में रामलीला, नौटंकी, खयाल, जात्रा, कीर्तनिया जैसी अनेक नाट्य मंडलियाँ देश के विभिन्न क्षेत्रों में परम्परा से कार्य करती रही हैं। लोक में अनेक अवसरों पर लोक नाट्य रूपों के उदाहरण आज भी परम्परा से चले आ रहे हैं। नाटक की यह उपस्थिति अपनी परम्परा, धार्मिक विश्वास, मनोरंजन एवं उपदेश जैसे उद्देश्यों के कारण लम्बे समय तक परम्परागत रूप से भारत में विद्यमान है।

आधुनिकता के आगमन के फलस्वरूप नए उद्योगों की स्थापना, नई तकनीक, नई शिक्षा आदि का प्रभाव साहित्य को मनुष्य के चिन्तन से जोड़ता है। भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना एवं देश के विभिन्न हिस्सों से उठने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलनों के कारण साहित्य और चिन्तन की दृष्टि से एक नए युग का आरम्भ होता है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के भारत में बढ़ते कदम भारतीय जनमानस को अनेक स्तरों पर उद्वेलित करते हैं। अँग्रेजी राज की स्थापना और उनकी नई शिक्षा नीति के फलस्वरूप जहाँ एक ओर भारतीय जनमानस को भौतिकता की ओर ले जा रहे थे, वहीं दूसरी ओर उसे अपने अस्मिता पर विचार करने के लिए प्रेरित भी कर रहे थे। सम्पूर्ण भारत के राजनीतिक परिदृश्य में अनेक अग्रदूतों जैसे—महात्मा गाँधी, दादाभाई

नौरोजी, गोपालकृष्ण गोखले, ज्योतिबा फूले, बाबा साहेब अम्बेडकर आदि की दृष्टियाँ भी भारतीय जनमानस को आधुनिक बनाने में कम भूमिका नहीं निभातीं और इसी आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भारत में साहित्य के नाटक विधा का विकास भी होता दिखाई देता है।

हिन्दी नाटक का विकास साहित्य के आधुनिक काल में गद्य के विकास के साथ हुआ। ऐसा सिर्फ जनचेतना में हो रहे परिवर्तनों के कारण हुआ। भारतीय नवजागरण और उसके केन्द्र में चलने वाले विविध आन्दोलन चाहे दक्षिण से प्रारम्भ होने वाला दलित आन्दोलन हो अथवा आदिवासियों-जनजातियों के आन्दोलन हों, चाहे किसानों के आन्दोलन हो, चाहे बंगाल से प्रारम्भ होने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन। इस समय भारतीय जनचेतना को सर्वाधिक आन्दोलित करने वाला सन्दर्भ तो प्रथम स्वाधीनता संग्राम का था। सब ने मिलकर भारतीय अस्मिता के जागरण का कार्य किया। भारतीय अस्मिता के जागरण ने नाटकों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निर्मित की और उसे प्रोत्साहन रंगशालाओं के निर्माण से प्राप्त हुआ।

अंग्रेजी राज में प्रथम रंगशाला की स्थापना 'प्ले हाउस' के नाम से सन् 1776 ई. में कलकत्ते में हुई तथा यहीं पर सन् 1777 ई. में 'कलकत्ता थियेटर' की भी स्थापना हुई। इस थियेटर में सन् 1789 ई. में कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का अंग्रेजी अनुवाद अभिनीत किया गया। बाद में फोर्ट विलियम कालेज के विलियम जोंस और दूसरे हिन्दी सेवकों के प्रयास से अनेक संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों का हिन्दी रूपान्तर हुआ और उसे अभिनय योग्य बनाकर अभिनीत किया गया लेकिन, अब तक नाटकों की स्थिति हिन्दी में मौलिक नाट्य रचना या उसके अभिनय तक नहीं पहुँच सकी थी। इसके पूर्व हिन्दी साहित्य के मध्यकाल एवं रीतिकाल में अनेक नाटकों की रचना हुई, किन्तु वे भाषा एवं नाटक के स्थापत्य के आधार पर अत्यन्त कमजोर स्थिति में दिखाई देते हैं। इन नाट्य रचनाओं में प्रमुख रूप से 'रुक्मिणीहरण', 'पारिजातहरण' (विद्यापति), 'विज्ञानगीता' (केशवदास), 'करुणाभरण' (लच्छिराम), 'प्रबोधचन्द्रोदय' (महाराजा यशवन्त सिंह), 'शकुन्तला' (नेवाज कवि), 'देवमाया प्रपंच' (देव), 'माधवानल कामकन्दला' (आलम), 'रामलीला विहार नाटक' (कृष्णशर्मा साधु) एवं 'आनन्द रघुनन्दन' (महाराजा विश्वनाथ सिंह) गिने जाते हैं। इन नाटकों में 'आनन्द रघुनन्दन' थोड़ा परिपक्व दिखाई देता है, किन्तु यह भी संस्कृत के ढंग का नाटक है। इस नाटक में रंग संकेत संस्कृत में तथा पात्रों के नाम भी संस्कृतनिष्ठ हैं। इसके अलावा जिन नाटकों की चर्चा इस सन्दर्भ में प्राप्त होती है, उन नाटकों में अधिकांश गद्य और पद्य की मिश्रित शैली में लिखे गए नाटक हैं।

गद्य के विविध रूपों में नाटक एक महत्वपूर्ण गद्य रूप है। गद्य के विकास की दृष्टि से भारतेन्दु युग सर्वाधिक महत्वपूर्ण युग है। इस युग में हिन्दी गद्य के विविध



रूपों विशेषतः कहानी, उपन्यास, निबन्ध और नाटक के विकास पर विशेष जोर दिखाई देता है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र एवं उनके मंडल के अनेक रचनाकारों ने नाट्य लेखन के क्षेत्र में अपनी लेखनी चलाई जिसे आगे चलकर जयशंकर प्रसाद ने आगे बढ़ाया। हिन्दी नाटक के इन पड़ावों को दृष्टिगत रखते हुए इसके विकास को कुल चार चरणों में बाँटकर देखा जा सकता है। प्रथम चरण उसके उद्भव से नाट्य रचना के क्षेत्र में प्रसाद के आगमन तक का रखा जाना चाहिए, जिसे इस युग के प्रवर्तक नाटककार भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के नाम पर भारतेन्दु काल कहा जा सकता है। हिन्दी नाटक के विकास का दूसरा चरण उसके विकास का है, जो नाट्य रचना के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद के आगमन से स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक माना जा सकता है। यद्यपि प्रसाद की मृत्यु सन् 1937 ई. में हो गई थी, किन्तु मेरी समझ से नाट्य रचना लेखन की जो मशाल उन्होंने जलाई, वह उनकी मृत्यु के बाद तक जलती रही, इसमें परिवर्तन आजादी के बाद ही होता है। अतएव इस युग को युग के प्रवर्तक रचनाकार जयशंकर प्रसाद के नाम पर प्रसाद युग कहना ज्यादा तर्कसंगत प्रतीत होता है। भारत के लिए आजादी एक बड़ा प्रश्न था, जो अनगिनत बलिदानों एवं लम्बे संघर्ष के बाद प्राप्त हुई थी। भारत की इस आजादी ने मनुष्य के सोचने के ढंग में बदलाव उपस्थित किया था। इसलिए नए सपने के संग नए भारत की रचना के स्वप्नों ने नाटक रचना के क्षेत्र में भी बदलाव किया। बदलाव के इन संकेतों के साथ स्वातन्त्र्योत्तर नाटक लगभग आपातकाल तक समय से कदमताल करते विकसित हुआ। इस दौरान भारत के साथ चीन का युद्ध, पाकिस्तान युद्ध, नक्सलवादी आन्दोलन आदि घटनाओं ने भी हिन्दी नाटक को समुचित खुराक दी। अतएव इस युग को स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक कहना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इसके बाद के नाट्य रचना का दौर समकालीन दौर है। इस समकालीनता में हमारे रहन-सहन, सोच एवं जीवन-स्तर सबमें एक महत्वपूर्ण बदलाव हुआ है। बदलते हुए इस जीवन का बारीक अध्ययन करने वाले इस नाटक को समकालीन नाटक नाम देते हुए अब तक के नाटक साहित्य के इतिहास को देखने का मेरा विनम्र आग्रह है।

“भारतेन्दु काल में रचित नाटकों को विषय एवं प्रवृत्ति-भेद के आधार पर पौराणिक, ऐतिहासिक, रोमानी, सामयिक उपादानों के आधार पर रचित, प्रहसन और प्रतीकवादी—इन दो वर्गों में रखा जा सकता है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने विषय के आधार पर उपर्युक्त उल्लिखित सभी वर्गों के नाटकों की रचना की है। इनके नाटकों में सर्वाधिक संख्या पौराणिक नाटकों की है, जिनके विषय-भेद से तीन वर्ग किए जा सकते हैं—1. कृष्ण एवं उनके परिवार के व्यक्तियों के चरित्र पर आधृत नाटक, 2. राम एवं उनसे सम्बन्धित पात्रों के चरित्र पर आधृत नाटक, 3. अन्य पौराणिक आख्यानों पर आधृत नाटक।”<sup>8</sup> भारतेन्दु बाबू के नाटकों में मौलिक नाटकों के

साथ-साथ अनूदित नाटकों की एक अच्छी संख्या उपस्थित है। भारतेन्दु बाबू के कुल नाटकों की संख्या सत्रह बताई जाती है, जो इस प्रकार हैं—‘विद्यासुन्दर’, ‘रत्नावली’, ‘पाखंड विडम्बन’, ‘धनंजय विजय’, ‘कर्पूरमंजरी’, ‘दुर्लभ बन्धु’, ‘श्री चन्द्रावली नाटिका’, ‘विषस्य विषमौषधम्’, ‘भारत दुर्दशा’, ‘नीलदेवी’, ‘अंधेर नगरी’, ‘सती प्रताप’ (अपूर्ण), ‘प्रेम जोगिनी’ (अपूर्ण)। इनके ‘सती प्रताप’ अपूर्ण नाटक को बाद में इनके फुफेरे भाई राधाकृष्ण दास ने पूरा किया था। भारतेन्दु के नाटकों में विषय का वैविध्य दिखाई देता है। उनके नाटक धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक विषयों पर केन्द्रित थे। भारतेन्दु बाबू ने अपनी नाट्य रचनाओं में भारतीय एवं पारसी शैली का सुन्दर मिश्रण प्रस्तुत किया है। ‘भारतेन्दु जी ने परम्परागत भारतीय नाट्य-पद्धति के प्रवाह में यूरोपीय नाट्य कला की नई धारा संयुक्त कर दी। परीक्षा के लिए उन्होंने अपने प्रारम्भिक नाटकों में दोनों शैलियों का अलग-अलग प्रयोग किया और जिस कथानक के अनुकूल जो पद्धति प्रतीत हुई, उसी को स्वीकार कर लिया। रचना-शैली में उन्होंने मध्यम मार्ग पकड़ा—न तो अँग्रेजी नाटकों का अन्धानुकरण किया और न बँगला नाटकों की भारतीय शैली की नितान्त उपेक्षा ही की; साथ-ही-साथ प्राचीन नाट्यशास्त्र के गहन आवर्त में अपनी नाट्य नौका भी न फँसने दी। तात्पर्य यह कि नाटक के गति अवरोध करने वाले सभी बंधनों से उन्होंने अपने को मुक्त रखा। नाटक की सामग्री भी उन्होंने जीवन के विविध क्षेत्रों-शृंगार, शौर्य, करुणा आदि से ग्रहण की। इस विषय में उन्होंने अपनी दृष्टि इतनी व्यापक रखी कि जिससे संस्कृत, प्राकृत, बाङ्ला, अँग्रेजी सभी प्रकार के नाटक रस से रस खींचा जा सके।’<sup>9</sup> इस प्रकार भारतेन्दु बाबू ने न केवल नाटकों को एक नए ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया अपितु अन्य लेखकों के लिए या नाटक मात्र के लिए एक नए मार्ग का निर्देश किया।

इस युग के दूसरे प्रमुख नाटककार हैं पं. प्रताप नारायण मिश्र। पं. प्रताप नारायण मिश्र ने जहाँ एक ओर अपने पत्र ‘ब्राह्मण’ के माध्यम से नाटकों के अधिकाधिक प्रकाशन पर बल दिया वहीं दूसरी ओर कानपुर में ‘नाट्य सभा’ की स्थापना कर नाटक को रंगमंच भी प्रदान किया। पं. प्रताप नारायण मिश्र का समय कानपुर में लावनीबाजों का समय है। स्वयं इन्होंने भी अनेक लावनी रचनाएँ कीं। पं. मिश्र नाटकों में पारसी शैली के विरोधी थे, उन्होंने नाटक में भारतीय शैली को प्रोत्साहित किया। प्रताप नारायण मिश्र नाटक लेखक मात्र नहीं थे, बल्कि स्वयं एक अच्छे अभिनेता भी थे। नाटक लेखन और मंचन के प्रति उनकी निष्ठा का ही प्रमाण है कि उन्होंने नाटक में स्त्री-पात्रों के अभिनय हेतु अपने पिता श्री संकटाप्रसाद मिश्र से मूँछ मुड़वा लेने की अनुमति प्राप्त कर मूँछें भी मुड़वा ली थीं। ‘कलिकौतुक’, ‘कलिप्रभाव’, ‘हठीहमीर’ और ‘गोसंकट’ उनके प्रमुख नाटक हैं। भारतेन्दु के नाटक ‘भारत दुर्दशा’ पर उन्होंने इसी नाम से एक रूपक भी लिखा था। साथ ही ‘जुआरी-खुआरी’,

प्रहसन एवं 'संगीत शाकुन्तल' जैसी लावनी पद्यमय नाटक के रूप में लिखी और कुछ बाङ्ला नाटकों का अनुवाद भी प्रस्तुत किया। पं. प्रताप नारायण मिश्र अपने युगीन लेखक भारतेन्दु से प्रभावित थे। 'कलिकौतुक' में सामाजिक समस्याओं का कलियुग के परिप्रेक्ष्य में निरूपण हुआ है। इनके नाटकों के विषय सामयिक थे तथा नाट्य कला की दृष्टि से उन्नत प्रयोग थे। इस युग के प्रमुख नाटककार बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' थे। यद्यपि नाटककार की अपेक्षा कवि रूप में इन्हें अधिक ख्याति प्राप्त हुई फिर भी इनके नाटक तत्कालीन समय में अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं। 'वीरांगना रहस्य', 'भारत सौभाग्य', 'प्रयाग रामागमन' इनके प्रमुख नाटक हैं। इन नाटकों में 'वीरांगना रहस्य' अथवा 'वेश्याविनोद' सामाजिक समस्या पर केन्द्रित नाटक था तो 'भारत सौभाग्य' काँग्रेस अधिवेशन के अवसर पर एकांकी रूप में प्रस्तुत किया गया था। इनका तीसरा नाटक 'प्रयाग रामागमन' धार्मिक कोटि का नाटक था, जिसकी भाषा विषय के प्रतिकूल ब्रजभाषा थी। इस युग के प्रमुख लेखक बालकृष्ण भट्ट भी थे, जिन्होंने भारतेन्दु से प्रभावित होकर 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्र का प्रकाशन किया था। इन्होंने प्रचुर मात्रा में नाटकों की रचना भी की थी। भट्ट जी के नाटकों के विषय सामाजिक एवं पौराणिक दोनों प्रकार के थे। इनके प्रमुख नाटक 'पद्मावती', 'चन्द्रसेन', 'किरातार्जुनीय', 'पृथुचरित्र', 'शिशुपाल वध', 'नल-दमयन्ती', 'शिक्षादान', 'आचार विडम्बन', 'नयी रोशनी का विष', 'बृहन्नला', 'सीता बनवास', 'पतित पंचम', 'मेघनाद वध' आदि हैं। इस युग के महत्त्वपूर्ण नाटक लेखक लाला श्रीनिवास दास, राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री, तोताराम वर्मा आदि हैं।

हिन्दी नाटक के क्षेत्र में द्विवेदी युग अर्थात् आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का वह प्रभाव जो उस युग की कविता पर दिखाई देता है, नाटक पर उस रूप में दिखाई नहीं देता। वस्तुतः साहित्यिक सन्दर्भों में यह युग मूलतः सुधारवादी ही रहा। इसीलिए जो बहुमुखी विकास भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समय में परिलक्षित होता है, वह इस समय में उस रूप में नहीं है। यह समय मुख्यतः परिष्कार का युग है जो समय की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता भी थी और इस रूप में हम यह कह सकते हैं कि आज हिन्दी नाटक का स्वरूप हमारे सामने है, उसके निर्माण में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

इसी द्विवेदी युग के मध्य नाट्य-साहित्य को गति प्रदान करने वाले रचनाकार जयशंकर प्रसाद का आगमन 'इन्दु' के सम्पादक के रूप में हुआ। साहित्य रचना के क्षेत्र में द्विवेदी जी की दृष्टि आदर्शवादी रही है। इसलिए रोमानीपन उनके साहित्य में स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत हुआ है। प्रसाद हिन्दी साहित्य के मेधासम्पन्न रचनाकार थे। हिन्दी, ब्रज एवं अवधी के साथ-साथ उन्हें बँगला, संस्कृत और प्राकृत का भी अच्छा ज्ञान था। इतिहास और संस्कृति के प्रति उनकी गहरी रुचि थी। इतिहास और संस्कृति से घटनाओं एवं तथ्यों को लेकर आधुनिक सन्दर्भों में उसकी पुनर्सृष्टि प्रसाद ने अपने

नाटकों में की। सन् 1910 ई. में उनका पहला नाटक 'सज्जन' प्रकाश में आया और तब से लेकर सन् 1933 ई. में 'ध्रुवस्वामिनी' के प्रकाशन तक प्रसाद के प्रत्येक नाटक हिन्दी नाटक की दिशा देने वाले नाटक के रूप में प्रकाशित हुए। सन् 1915 में राज्यश्री<sup>10</sup> के प्रकाशन से प्रसाद के नाटकों में प्रौढ़ता का आगमन होता है। 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' उस समय के मार्गदर्शक नाटक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इन तीनों नाटकों के माध्यम से प्रसाद ने जहाँ पराधीन भारत की जनता को उसके गौरवमयी अतीत का याद दिलाकर उसके उद्बोधन का प्रयास किया, वहीं नारी अस्मिता को भी नई पहचान देने की कोशिश की। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में नारी विवाह के प्रश्न का सकारात्मक हल प्राप्त होता है।

हिन्दी नाटक के क्षेत्र में भारतेन्दु द्वारा स्थापित नाटक विधा को गरिमा दिलाने का कार्य जयशंकर प्रसाद ने किया। नाटक के विकास में प्रसाद की भूमिका वह आधारभूमि है, जिस पर आधुनिक नाटक का विकास सम्भव हो सका। स्त्री-चरित्र का आधुनिक स्वरूप प्रथम बार प्रसाद के नाटकों में ही दिखाई देते हैं। डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त लिखते हैं कि 'प्रसाद के प्रायः सभी नाटकों में किसी-न-किसी ऐसे नारी-पात्र की अवतारणा हुई है; जो धरती के दुःखपूर्ण अन्धकार के बीच प्रसन्नता की ज्योति की भाँति उद्दिप्त है; जो पाशविकता, दनुजता और क्रूरता के बीच क्षमा, करुणा एवं प्रेम के दिव्य सन्देश की प्रतिष्ठा करती है; जो अपने प्रभाव से दुर्जनों को सज्जन, दुराचारियों को सदाचारी और नृशंस अत्याचारियों को उदार-लोक-सेवी बना देती है।'<sup>11</sup> प्रसाद के नाट्य कला के कारण ही नाटक परम्परागत सुखान्त और दुःखान्त की परिधि लौंघकर प्रसादान्त जैसे विशेष आदर्श अन्त की ओर उन्मुख हुए।

प्रसाद युगीन हिन्दी नाटक लेखन की परम्परा पर बाङ्ला एवं अंग्रेजी की नाट्य परम्परा का प्रभाव स्पष्टतः देखा जाने लगा था। यह प्रभाव प्रसाद से ही प्रारम्भ हो चुका था। इस समय के पूर्व सन् 1875 ई. के आस-पास पश्चिम में बर्नार्ड शा एवं इब्सन आदि नाटक लेखन में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे। सन् 1925 ई. में नाटक लेखन के क्षेत्र में उत्कृष्टता के कारण आइरिश लेखक जार्ज बर्नार्ड शा को नोबल पुरस्कार दिए जाने से भारतीय नाटक लेखकों का इस ओर ध्यान जाना एक स्वाभाविक-सी बात थी। दूसरी ओर इब्सन के नाटक दृश्यविहिता के कारण विशेष रूप से आकर्षण के केन्द्र बने हुए थे। इब्सन ने समस्या नाटकों की शुरुआत की थी। इस युग के महत्त्वपूर्ण नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र इब्सन से विशेष प्रभावित थे। इनके नाटक परम्परित नाटक परम्परा से अलग सामयिक समस्याओं जैसे—सहशिक्षा, विवाह एवं सम्बन्धों की नैतिकता को केन्द्र में रखकर रचे जा रहे थे। किन्तु साथ ही सामाजिक, पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा भी चलती रही। मिश्र जी के प्रमुख नाटक 'संन्यासी', 'मुक्ति का रहस्य', 'आधीरात', 'राजयोग', 'सिंदूर की होली', 'राक्षस का मन्दिर' आदि हैं। नाटक के क्षेत्र में मिश्र जी के योगदान को दृष्टि में

रखकर डॉ. प्रभाकर माचवे ने लिखा है कि “पर आज सोचता हूँ कि हिन्दी नाटक में (लक्ष्मीनारायण मिश्र) न होते तो क्या जगदीशचन्द्र माथुर, भुवनेश्वर, मोहन राकेश, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, डॉ. शंकर शेष बाद में आते? नींव के पत्थर की नियति ही यह है कि सब उसे भूल जाते हैं पर उसके बिना इमारत का निर्माण भी नहीं होता है।”<sup>12</sup>

प्रसाद युगीन नाटक लेखकों की परम्परा में पं. गोविन्द बल्लभ पन्त, पांडे बेचनशर्मा उग्र एवं हरिकृष्ण प्रेमी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पन्त जी के नाटक ‘बरमाला’, ‘राजमुकुट’, ‘ययाति’ और ‘अंगूर की बेटी’ में ‘बरमाला’ और ‘अंगूर की बेटी’ विशेष ख्याति प्राप्त किए। ‘अंगूर की बेटी’ में शराबखोरी की समस्या को प्रस्तुत किया गया है। पन्त जी की विशेष प्रवृत्ति सामाजिक एवं पौराणिक नाटकों की ओर रही। इसी प्रकार उग्र जी की नाट्य रचना ‘चुम्बन’ आर्थिक विपन्नता का फायदा उठाकर अनैतिक सम्बन्धों की यथार्थ प्रस्तुति करता है। इनके अन्य प्रमुख नाटक ‘डिक्टेटर’, ‘महात्मा ईसा’ और ‘गंगा का बेटा’ आदि हैं। प्रेमी जी प्रसाद की परम्परा के नाटककार थे, जिनकी दृष्टि राष्ट्रीय चेतना की ओर अधिक रही है। इनके प्रमुख नाटक ‘स्वर्णविहान’, ‘रक्षाबंधन’, ‘पाताल विजय’, ‘शिवा साधना’ और ‘प्रतिशोध’ प्रमुख हैं। इस युग के प्रमुख नाटक ‘अंजना’, ‘दयानन्द’, ‘भाग्यचक्र’ (सुदर्शन), ‘विक्रमादित्य’, ‘सागरविजय’, ‘कमला’, ‘अम्बा’, ‘विश्वामित्र’, ‘राधा’, ‘मुक्तिपथ’, ‘शक विजय’ (उदयशंकर भट्ट), ‘हर्ष’, ‘प्रकाश’, ‘कर्तव्य’, ‘कर्ण’ (सेठ गोविंददास) आदि हैं। इस युग की महत्त्वपूर्ण देन समस्या नाटकों का सृजन है।

20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में ही मार्क्सवाद एवं मनोविश्लेषणवाद जैसी विचारधाराओं का नया वैचारिक स्वरूप भी सामने आता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री अरविन्द और भारती साराभाई जैसों ने भी इस दौर में सर्वथा एक नई दृष्टि दी। भारत में नाट्य कला के विकास में क्रान्तिकारी परिवर्तन तो तब आया, जब केन्द्रीय संगीत नाटक अकादेमी (जनवरी, 1953), राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय एवं अनेक नाट्य संस्थानों की स्थापना ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण बदलाव उपस्थित किए। यह समय आजाद भारत का समय है। देश की समस्याओं एवं उनके स्वरूप में महत्त्वपूर्ण बदलाव इस युग के नाटकों में देखे जा सकते हैं। भारतीय नाटककारों में धर्मवीर भारती, आसिफ करीम भाई, मोहन राकेश, बादल सरकार, विजय तेन्दुलकर, गिरीश कर्नाड, प्रवीण फुकरे, सुरेन सड़किया, मधु राय जैसे अनेक नाटककारों ने नाटक को रंगमंच के साथ आधुनिक दिशा देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

हिन्दी की आधुनिक नाट्य परम्परा में धर्मवीर भारती का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आधुनिकता से ओत-प्रोत द्वितीय विश्वयुद्ध से उत्पन्न अस्तित्व की चिन्ता एवं भारत-विभाजन से उत्पन्न परिस्थितियों का संकेत धर्मवीर भारती के गीतिनाट्य ‘अन्धायुग’ (सन् 1954 ई.) में स्पष्टतः देखा जा सकता है। यद्यपि एकांकी

के क्षेत्र में आधुनिक विसंगतिबोध नाटक से पूर्व ही प्रारम्भ हो चुका था। 'बादल की मृत्यु', 'पृथ्वीराज की आँखें' (रामकुमार वर्मा), 'ऊसर', 'ताँबे के कीड़े' (भुवनेश्वर) इस क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं। भारती का 'अन्धायुग' नाटक महाभारत की कथा के माध्यम से तत्कालीन परिस्थितियों को प्रस्तुत तो करता ही है, साथ ही भविष्य का संकेत भी प्रस्तुत करता है—

सत्ता होगी उनकी  
जिनकी पूँजी होगी।  
जिनके नकली चेहरे होंगे  
केवल उन्हें महत्त्व मिलेगा।  
राजशक्तियाँ लोलुप होंगी,  
जनता उनसे पीड़ित होकर  
गहन गुफाओं में छिप-छिप कर दिन काटेगी।

हिन्दी नाटक की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नाटक की परम्परा में स्वतन्त्रता के बाद के दिनों में हुआ। आजादी की खुशी एवं कुछ समय बाद मोहभंग की स्थितियों ने मनुष्य को अनेक स्तरों पर विभाजित किया। पश्चिम से आने वाले डार्विन, फ्रायड, मार्क्स, नीत्शे, कामू, सार्त्र इत्यादि के अनुसन्धानों एवं सिद्धान्तों ने विश्वचेतना को बदलकर रख दिया। भारत में यह बदलाव बिल्कुल पश्चिमी देशों जैसा नहीं हुआ। भारत में इन विचारधाराओं के आगमन और भारतीय ज्ञान-सम्पदा के मेल से एक नए प्रकार के स्वभाव का निर्माण हुआ। भारतीय समाज में परम्परा एवं आधुनिकता दोनों को बराबर महत्त्व दिया गया और इसी कारण भारतीय साहित्य पश्चिमी साहित्य से अपने को अलग करते हुए बहुधा नए प्रकार से विकसित हुआ साहित्य है। परम्परा और आधुनिकता की उपस्थिति ने मानवीय सम्बन्धों की एक नई व्याख्या की। मनुष्य सम्बन्धों में व्यक्तिगत एवं सामूहिक दृष्टियों का अलग-अलग विकास हुआ। व्यक्तिगत एवं पारिवारिक सम्बन्धों में अनेक प्रकार के परिवर्तन देखे जाने लगे। सामान्य-से-सामान्य घटनाओं को विशिष्ट रूप से एवं विशिष्ट-से-विशिष्ट घटनाओं को सामान्य रूप से देखने की प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं। इस समय में मानवीय सम्बन्धों को अलग-अलग प्रकार से देखा गया।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत के महत्त्वपूर्ण हिन्दी नाटककार मोहन राकेश ने 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' और 'आधे-अधूरे' जैसे महत्त्वपूर्ण नाटकों के साथ रेडियो नाटक जैसे 'अंडे के छिलके' और 'रात बीतने तक' जैसे महत्त्वपूर्ण नाटकों की रचना की। मोहन राकेश का रेडियो नाटक 'पैर तले की जमीन' पूरा नहीं हो सका था, जिसे बाद में उनके मित्र कमलेश्वर ने पूरा किया। मोहन राकेश के तीनों पूर्ण नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' (1958 ई.), 'लहरों के राजहंस' (1963 ई.) एवं

‘आधे-अधूरे’ (1969 ई.) में मानवीय जीवन के सभी पक्षों का उल्लेख किया है। राकेश के इन नाटकों में से प्रथम दो का सम्बन्ध इतिहास से है तो तीसरा मध्यवर्गीय समाज की विसंगतियों को प्रस्तुत करता है। ‘आषाढ़ का एक दिन’ जहाँ कालिदास और मल्लिका के बीच प्रेम-सम्बन्धों को नए ढंग से दर्शाता है। नाटक का कालिदास इतिहास में प्रस्तुत कालिदास मात्र नहीं है। नाटक में मल्लिका का उत्सर्ग और इस प्रक्रिया में आन्तरिक द्वन्द्व नाटक की रचनात्मकता के प्रमाण बनकर उभरते हैं। राकेश का दूसरा नाटक ‘लहरों के राजहंस’ आधुनिक दुनिया के स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का एक नया स्वरूप प्रस्तुत करता है। इस नाटक का सम्बन्ध भी गौतम बुद्ध और उनके समय से है। नाटक का राजकुमार नन्द अपनी सुन्दरी पत्नी के प्रति अत्यधिक प्रेम रखता है। नन्द की पत्नी नारी सौन्दर्य को अप्रतिम वस्तु मानती है और जब नन्द उसकी इन भावनाओं से पृथक् बौद्ध धर्म की दीक्षा ले लेता है तो आहत होती है। मध्यवर्गीय समाज में अहं के टकराव के कारण विभाजित व्यक्तित्व एवं असामंजस्य की समस्या को उनका तीसरा नाटक ‘आधे-अधूरे’ प्रस्तुत करता है। इस नाटक में स्त्री और पुरुष के बीच तनाव, घुटन एवं अलगाव की समस्या स्पष्टतः देखी जा सकती है। ‘आधे-अधूरे’ की सावित्री कामकाजी स्त्री की भूमिका में आती है और अपने निठल्ले पति एवं परिवार को सँभालने की कोशिश करती है। मोहन राकेश के नाटक अपने समय की सही तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। मोहन राकेश प्रसाद के आगे की कड़ी के नाटककार हैं, जिसे धर्मवीर भारती ने दिशा देने की कोशिश की थी मोहन राकेश ने आगे बढ़ाया।

आधुनिकता और आधुनिकता-बोध ने मनुष्य के भीतर एक नए प्रकार के मनुष्य को उत्पन्न किया। यह नया मनुष्य सामाजिक रिश्तों से अलग व्यक्तिगत मुक्ति की ओर बढ़ने लगा, जो इक्कीसवीं शताब्दी में बाजार से प्रभावित होकर उपभोक्ता बन बैठा। समाज में हो रहे इन परिवर्तनों का प्रभाव हिन्दी नाटकों पर भी पड़ा। अब नाटक महज मनोरंजन का उपकरण नहीं, अपितु समाज को आईना दिखाने वाले साहित्य में परिणत हो गया। समाज में हो रहे इन बदलावों के परिणामस्वरूप सम्बन्धों की पूँजी का क्षरण सबसे पहले दिखाई देता है। पारिवारिक सम्बन्धों प्रेम का स्खलन हुआ और परिवार बिखरने लगे। भारतीय समाज जहाँ संयुक्त परिवार की प्रथा, इसका वैशिष्ट्य थी, अब छोटे-छोटे परिवारों में विभक्त होने लगा। परिवारों के खर्च में वृद्धि हुई और आय स्रोतों की तलाश में अंधी दौड़ प्रारम्भ हो गई। इस दौड़ में संबंधों का मोल रुपये-पैसे से लगाया जाने लगा। मोहन राकेश के नाटकों में इसे स्पष्टतः देखा जा सकता है। पारिवारिक सम्बन्धों के बीच होने वाले इन परिवर्तनों को हिन्दी के समकालीन नाटककारों ने यथातथ्य और बेलौस ढंग से प्रस्तुत किया। पति-पत्नी के सम्बन्धों में अनेक परिवर्तन एवं विखराव इस समय के नाटकों में देखने को मिलते हैं। अस्तित्ववादी चिन्ता, साम्प्रदायिकता की समस्या, महँगाई, बेरोजगारी, महत्वाकांक्षा,

कैरियर, यौनसम्बन्ध, समलैंगिकता, वैश्वीकरण, उपभोक्तवाद आदि विषय इस युग के विषय हैं। इस समय के प्रमुख नाटकों में लक्ष्मीनारायण लाल का 'अन्धा कुआँ', 'मि. अभिमन्यु', 'कफ़रू', उपेन्द्रनाथ अशक का 'अंजोरीदी', विष्णु प्रभाकर का 'डॉक्टर', जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क', सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रोपदी', विपिन अग्रवाल का 'तीन अपाहिज' आदि हैं। इस समय में भी नाटक लेखन के क्षेत्र में लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, गोविन्द वल्लभ पन्त, हरिकृष्ण प्रेमी, भीष्म साहनी, विष्णु प्रभाकर, जगदीशचन्द्र माथुर, अमृतराय, विनोद अग्रवाल, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, शिवप्रसाद सिंह, काशीनाथ सिंह, दूधनाथ सिंह आदि ने भी महत्वपूर्ण नाट्य लेखन किया।

समकालीन नाटक अपने समय का वास्तविक चित्र उपस्थित करते हैं। विधवा जीवन की समस्या और उसके पुनर्विवाह आदि की समस्या भी समकालीन नाटकों में अभिव्यक्त हुई है। सम्बन्धों की पूँजी भारतीय समाज की अपनी मौलिक विशेषता थी जिसपर गहरा आघात बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और उसके बाद के विमर्शों से भी मिलता है। ऐसा कहने के साथ यह भी स्पष्ट कर दूँ कि ऐसा कहकर समाज की बेहतरी में इन विमर्शों की भूमिका को कमतर करना मेरा उद्देश्य नहीं है। इन विमर्शों ने भारतीय समाज में हाशिए के लोगों को केन्द्र में लाने का कार्य किया है। इन विमर्शों की समस्या यह थी कि बराबरी के अधिकार की लालसा के साथ प्रारम्भ इन विमर्शों में कहीं गति अवरोधक तो था ही नहीं, जिसका परिणाम यह हुआ कि कभी-कभी सीमाओं का अतिक्रमण भी होने लगा। इधर बाजार और उपभोक्तावाद ने भी इन्हें प्रोत्साहन दिया।

अब नारी स्वातन्त्र्य की बात ही अगर लें तो स्वातन्त्र्य और सशक्तीकरण पर ही ये बातें नहीं रुकीं, बल्कि वह स्वच्छन्दता और उससे भी आगे बढ़कर बात करती हुई दिखाई देती हैं और अब पता नहीं किस सामाजिक धारणा से मुक्त भोग तक की बात को अधिकार के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा है। मीडिया विज्ञापनों में द्विअर्थी स्लोगनों का दौर आया—एक से मेरा क्या होगा, यहाँ सब कुछ बिकता है अथवा ये दिल माँगे मोर जैसे विज्ञापनों को देखिए। रमेश बक्षी का एक नाटक है 'देवयानी का कहना है'। इस नाटक में देवयानी स्पष्ट रूप से कहती है कि—“One apple is not enough for whole of the life, test more”. ऐसे कथन स्त्री के महत्वाकांक्षी भोग को संकेत करते हैं। यह तो एक बानगी मात्र है। समाज में स्त्री एवं पुरुष दोनों की प्रवृत्तियों में ऐसी मानसिकता दिखाई देती है। ऐसे मूल्यों के साथ-साथ पारम्परिक मूल्यों की भी उपस्थिति नाटकों में दिखाई देती है किन्तु, बहुतायत खुलेपन की आड़ में अमर्यादित सम्बन्धों की ओर ही अधिक है। यहाँ चिन्ता अब पारिवारिक टूटन की नहीं, अपितु पति-पत्नी के सम्बन्धों और आपसी विश्वास का गहरा संकट है। दाम्पत्य जीवन की महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में प्रेम का स्थान बदल जाता है और निजी स्वतन्त्रता की आड़ में वह निजी सन्तुष्टि तक पहुँच जाती है। निजी स्वतन्त्रता के इस



खुले परिवेश में पारम्परिक वैवाहिक सम्बन्धों की अप्रासंगिकता एवं अपर्याप्तता सिद्ध की जाती है। सोशल मीडिया और स्मार्ट फोन के ऐप के ऐब ने भी इसमें आग में घी के समान कार्य किया है। समाज में स्त्री एवं पुरुष दोनों की प्रवृत्तियों में ऐसी मानसिकता दिखाई देती है। पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री की स्थिति स्त्रीवादी विमर्शों एवं सशक्तीकरण के प्रभाव स्वरूप स्त्री स्वातन्त्र्य या स्त्री सत्तावादी दृष्टियों की उपस्थिति भी नाटकों में दिखाई देती है। भारतीय नाटकों में स्त्री के खुलेपन के साथ-साथ उसके संकोची स्वभाव के कारण अनेक स्तरों पर उसके शोषण का भी चित्रण हुआ है।

शंकर शेष, मुद्राराक्षस, मणि मधुकर, गिरिराज किशोर आदि ने भी आधुनिक मनुष्य के जीवन की समस्याओं नाटकों में प्रस्तुत किया। शंकर शेष का नाटक 'एक और द्रोणाचार्य', 'रक्तबीज', 'बंधन अपने अपने' एवं अन्य मुद्राराक्षस का 'मरजीवा', 'योर्स फेदफुली', 'आला अफसर' एवं अन्य मणि मधुकर का 'रसगन्धर्व', 'खेला पोलमपुर', 'इकतारे की आँख' एवं अन्य, गिरिराज किशोर का 'चेहरे-चेहरे किसके चेहरे', 'घोड़ा और घास', 'काठ की तोप' आदि नाटकों के माध्यम से मनुष्य सम्पूर्णता को प्रस्तुत किया गया है।

इस युग की एक प्रमुख उपलब्धि इस क्षेत्र में महिला नाटककारों की उपस्थिति भी है। इन लेखिकाओं का नाटक के क्षेत्र में पदार्पण अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। प्रथम तो इनके आगमन से वर्ग-विशेष की उपस्थिति मौलिक रूप से हो सकी और द्वितीय यह की सदियों से मौन समूह के नाटक के क्षेत्र में आगमन से एक पूर्णता प्राप्त हुई। मन्नू भंडारी, मृदुला गर्ग, मृणाल पांडे और शान्ति मेहरोत्रा आदि ने मौलिक नाटक रचना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। मन्नू भंडारी का नाटक 'बिना दीवारों का घर', 'मृदुला गर्ग का', 'एक और अजनबी', 'जादू का कालीन', 'तीन कैदें'; मृणाल पांडे का 'मौजूदा हालात देखते हुए', 'जो रामरचि राखा', 'चोर निकलकर भागा', 'मुक्तिकथा' एवं अन्य नाटक तथा शान्ति मेहरोत्रा का 'एक और दिन', 'ठहरा हुआ पानी' आदि प्रमुख नाटक हैं। अन्य महिला नाटककारों में शोभना भूटानी, शान्ता गाँधी, कुन्था जैन, कुसुम कुमार, मीराकान्त आदि प्रमुख हैं। हिन्दी नाटक के क्षेत्र में गिरीश रस्तोगी का नाम भी एक महत्वपूर्ण नाम है, जिन्होंने अनेक कथात्मक कृतियों का नाट्य रूपान्तर कर इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। गिरीश रस्तोगी की महत्वपूर्ण भूमिका नाट्यालोचन को लेकर भी रही है।

हिन्दी नाटक के विकास में रंगमंचों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। भारतेन्दु की कविता-वर्धिनी सभा से लेकर आज के तकनीकी संसाधनों से युक्त थिएटर तक इसे जनता से जोड़ने और सार्थकता प्रदान करने की सतत कोशिश करते रहे हैं। जिससे नाटक और रंगमंच के बीच एक सामंजस्य की स्थिति दिखाई दे रही है। कतिपय स्थानों पर ऐसा नहीं है तो उसके दूसरे कारण हैं।

## सन्दर्भ

1. हिन्दी साहित्य कोश-भाग एक, पृ. 315
2. साहित्यिक निबन्ध- डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ. 389
3. महेन्द्रप्रमुखैर्वैरुक्तः किल पितामहः ।  
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत् ।।10।।  
न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु ।  
तस्मात् सृजापरं वेदं सार्ववर्णिकम् ।।11।।  
संक्षिप्तनाट्यशास्त्रम् राधाबल्लभ त्रिपाठी, प्रथमोऽध्यायः ।  
धर्म्यमर्थ्यं यशस्य च सोपदेश्यं ससङ्ग्रहम् ।  
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ।।12।।  
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम् ।  
नाट्याख्यं पंचमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ।।13।।  
संक्षिप्तनाट्यशास्त्रम् राधाबल्लभ त्रिपाठी, प्रथमोऽध्यायः ।
5. एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन् ।  
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवनम् ।।14।।  
जग्राह पाठ्यमृगवेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।  
यजुर्वेदादभिनयान् रसमाथर्वणादपि ।।15।।  
संक्षिप्तनाट्यशास्त्रम् राधाबल्लभ त्रिपाठी, प्रथमोऽध्यायः ।
6. दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।  
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ।।16।।  
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।  
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ।।17।।  
संक्षिप्तनाट्यशास्त्रम् राधाबल्लभ त्रिपाठी, प्रथमोऽध्यायः ।
7. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, डॉ. दशरथ ओझा, पृ. 6
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास— (सं.) डॉ. नगेन्द्र, पृ. 458
9. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, डॉ. दशरथ ओझा, पृ. 7
10. यद्यपि इस नाटक में कुछ पात्रों और दृश्यों की समाविष्टि सन् 1937 ई. में करके प्रसाद जी ने इसे पूर्णता प्रदान की ।
11. साहित्यिक निबन्ध- डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ. 395
12. स्वतन्त्र भारत, 18 सितम्बर, 1987 में प्रकाशित आलेख से ।

## आधुनिक साहित्य समीक्षा का पाश्चात्य मानदंड : अस्तित्ववाद

डॉ. नानासाहेब गोरे\*

साहित्य समीक्षा के मानक समय-समय पर परिवर्तित होते आए हैं। साहित्य समाज की प्रतिबद्धता पूरी निष्ठा के साथ निभाता है, यही कारण है कि समाज के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य का परिवर्तित होना और साहित्य परिवर्तन के साथ साहित्य समीक्षा के मानदंडों का परिवर्तित होना भी अवश्यम्भावी है। इसीलिए पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्री आवश्यकतानुरूप साहित्य समीक्षा के नए-नए सिद्धान्त गढ़ते रहे। भारतीय साहित्य की समीक्षा पाश्चात्य मानकों के आधार पर आवश्यकतानुरूप की जाती रही है। प्रथम विश्वयुद्ध के महाविनाश के पश्चात् सम्पूर्ण विश्व में जो घोर व्यक्तिवादी चिन्तनधारा प्रस्तुत हुई उसे अस्तित्ववादी चिन्तनधारा के नाम से अभिहित किया गया। आगे चलकर इस चिन्तनधारा का प्रभाव पाश्चात्य ही नहीं वैश्विक साहित्य पर दिखने लगा। इससे प्रेरित साहित्य की समीक्षा इन्हीं मानदंडों के आधार पर की जाने लगी।

अस्तित्ववाद अंग्रेजी के Existentialism का हिन्दी पर्यायी शब्द है। विद्वानों का मानना है कि Existentialism शब्द जर्मन Existenz Philosophic शब्द का अनुवाद है। मनुष्य को हमेशा विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, नैतिक बन्धनों में बाँधे रखने की कोशिश की जाती है। और फिर जब-जब ये वर्जनाएँ मनुष्य के सामाजिक विकास में बाधा डालने लगती हैं या फिर मनुष्य के आत्मिक एवं अस्तित्व-गत विकास की बाधा बनने लगती हैं, तब-तब वह मुक्ति के लिए छटपटाने लगता है। इसी छटपटाहट से मुक्ति के दार्शनिक विचार सामने आने लगते हैं। और उसका अनुसरण प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति करने लगता है। अस्तित्ववादी विचारधारा भी इसी वर्जनामूलक परिस्थिति की उपज है। जब सामाजिकता के परिप्रेक्ष में व्यक्ति का

\*सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, जे.ई.एस. महाविद्यालय, जालना। मो. 09422219183  
ई-मेल—nanahebgore@gmail.com

व्यक्तिगत अस्तित्व ही खतरे में आने लगा। डॉ. सत्यदेव मिश्र के शब्दों में, “यूरोप की उन्नीसवीं शती की औद्योगिक क्रान्ति, वैज्ञानिक अनुसन्धान एवं मशीनीकरण ने मनुष्य अस्तित्व को अन्धकार के गर्त में धकेल दिया था। तत्कालीन समाज-व्यवस्था मनुष्य के अस्तित्व की अवहेलना कर रही थी। मनुष्य प्रकृति की भाँति ही मशीन का भी गुलाम बनकर रह गया था। भौतिक एवं वैज्ञानिक विकास की घुड़दौड़ में मानव-अस्तित्व का स्वतः कोई मूल्य नहीं रह गया था। सोरेन कीर्केगार्ड (Soren Kierkegaard) ने ऐसी बदली हुई परिस्थितियों में मानव-जीवन में वैयक्तिकता की आवाज बुलन्द की।”<sup>1</sup>

निःसन्देह आरम्भिक दर्शनशास्त्र का प्रत्येक दर्शन ईश्वर एवं धर्म से प्रेरित तथा प्रभावित था। अस्तित्ववादी चिन्तकों की भी एक लम्बी शृंखला है। इनमें भी कुछ आस्तिक हैं तो कुछ नास्तिक। मूलतः अस्तित्ववादी चिन्तन ही एक चमत्कारपूर्ण दर्शन है कि जिसे किसी एक निर्धारित ढाँचे में बाँधा नहीं जा सकता। मानव अस्तित्व को प्रत्येक दार्शनिक ने अपने-अपने तरीके से बाँधा है। इसलिए प्रत्येक अस्तित्ववादी चिन्तक एक ओर अपने-अपने तरीके से उसे परिभाषित करता है तो कभी एक-दूसरे के मतों को काटता है। इस सन्दर्भ में ख्याति-प्राप्त समीक्षक बच्चन सिंह लिखते हैं कि, “विभिन्न अस्तित्ववादियों की अलग-अलग सारणियाँ हैं, जो कभी एक-दूसरे को काटती तथा कभी एक-दूसरे के समानान्तर चलती हुई प्रतीत होती हैं। फिर भी उनकी अवधारणाओं में एक ‘कौटुम्बिक सादृश्य’ दिखाई पड़ेगा... अगर अस्तित्ववादियों की सूची तैयार की जाए तो वह भी सभी को मान्य नहीं होगी। कौन लोग अस्तित्ववादी हैं, इस पर भी लोगों में समझौता नहीं है। एक सूची में जो लोग हैं, वे दूसरी सूची में गायब हैं।”<sup>2</sup>

मानव अस्तित्व आरम्भ से ही दार्शनिकों, चिन्तकों की चिन्ता एवं चिन्तन का विषय रहा है। इसलिए अस्तित्वगत प्रश्नों को लेकर काफी चिन्तन समाज, धर्म, सुधार, मानवीयता के परिप्रेक्ष्य में हुआ है। बहुत बार तो धार्मिक, नैतिक, सामाजिक वर्जनाओं से मुक्ति में ही मानव अस्तित्व को देखा गया है। भारतीयता के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन इस चिन्तन धारा को अति प्राचीन घोषित करते हुए लिखते हैं कि अस्तित्ववाद पुरातन प्रणाली का ही नवीन नाम है। वे अपनी पुस्तक ‘हिस्ट्री ऑफ फिलॉसॉफी : ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न’ के भाग दो में अस्तित्ववाद को उपनिषद् और बौद्ध धर्म की आत्मज्ञान सम्बन्धी प्रवृत्तियों का नवीन संस्करण मानते हैं। इतना ही नहीं कार्ल जेस्पर्स जैसे अस्तित्ववादी चिन्तक बौद्ध चिन्तन से काफी प्रभावित हुए हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक ‘द ग्रेट फिलॉसफर्स’ में संसार के चार दार्शनिकों की रचनाओं में अस्तित्ववादी चिन्तन का उल्लेख किया है, जिसमें बुद्ध का नाम लिया जाता है। इनका चिन्तन अस्तित्ववादियों की चिन्तन धारा से काफी मेल खाता है। श्री के.आर. श्रीनिवास आर्यंगर तो श्रीअरविन्द को भी

अस्तित्ववादी विचारक मानते हैं। मानवीय अस्तित्व के सन्दर्भ में चिन्तन की परम्परा चाहे कितनी भी लम्बी एवं पुरानी हो फिर भी एक स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में उसकी प्रस्तुति डेनिश विद्वान सोरेन कीर्केगार्ड ने ही की है।

मानवीय अस्तित्व के संकट से सम्बद्ध चिन्तन धारा को 'अस्तित्ववाद' के रूप में रूपायित करने वाले सिद्धान्त एवं उससे सम्बद्ध कीर्केगार्ड के डेनिश भाषा में लिखित साहित्य के आगे चलकर कई भाषाओं में अनुवाद हुए। आगे चलकर यह विचारधारा किसी एक देश या राष्ट्र की नहीं, अपितु वह एक वैश्विक दर्शन बन गई। 19वीं शती के उत्तरार्ध में जर्मन दार्शनिक फ्रेडरिक नीत्शे (Friedrich Nietzsche) ने इस चिन्तन को और गति प्रदान की। नीत्शे ने अपने चिन्तन में सामाजिक एवं नैतिक मान्यताओं का प्रबल विरोध किया। उसका मानना था कि सामाजिक एवं नैतिक मर्यादाएँ ही व्यक्ति के विकास की सही बाधाएँ हैं। उनकी मर्यादाओं की कठोरता एवं निर्ममता ही मनुष्य को अस्तित्वहीन, बौना बना देती है। इन धाराणाओं की सम्प्लोषक ईश्वरत्व की धारणा को ही वह निराधार मानता है। डॉ. श्यामसुन्दर मिश्र के शब्दों में, "परम्परागत ईश्वरत्व की परिकल्पना को वह निरर्थक मानता है और धर्म को व्यक्ति स्वतन्त्रता का अताकिर्क अनैतिकीकरण प्रमाणित करता है। सामाजिक रीति, नीति और आचारों को लाभकारी स्थिति में आसीन व्यक्तियों का ढकोसला तथा समाज के अधिकाधिक जनों के शोषण का आधार स्वीकार करता है। वह परम्परा द्वारा स्वीकृत सभी सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक धारणाओं का विरोध करता है।"<sup>3</sup> नीत्शे के साथ ही जर्मन दार्शनिक कार्ल जेस्पर्स (Karl Jaspers), मार्टिन हेडेगर (Martin Heidegger) तथा फ्रांस के गेब्रियल मार्सेल (Gabriel Marcel), ज्यां पॉल सार्त्र (Jean-Paul Sartre), अलबर्ट कामू (Albert Camus) ने अस्तित्ववादी चिन्तन धारा को विकसित किया।

कोई भी अमूर्त तत्त्व चिन्तन या दर्शन साहित्य के माध्यम से अधिक प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। साहित्य के माध्यम से ही वह जटिल, कठिन या अबूझ स्थिति में सुग्राह्य बनता है। इतना ही नहीं इस प्रकार की रचनाएँ ही साहित्य समीक्षा के मान निश्चित करती हैं। साहित्यशास्त्र की गहन अध्येता सुश्री निर्मला जैन लिखती हैं, "कालजयी साहित्यिक कृतियाँ अपने सृजन के साथ कुछ मूल्य-मान लेकर आती हैं। वे पाठकों की रुचि का निर्धारण करती हैं और उसमें आगे आने वाली कृतियों के लिए कुछ विशेष अपेक्षाएँ जगाती हैं। इस प्रकार साहित्य-शास्त्र का आरम्भ एक प्रकार से साहित्य के साथ ही हो जाता है। इन मूल्य-मानों और अपेक्षाओं का सिद्धान्त के रूप में सुव्यवस्थित विवेचन समीक्षा शास्त्र को रूप देता है। यह शास्त्र समय के साथ विकसित होता चलता है।"<sup>4</sup> ज्यां पॉल सार्त्र तथा अलबर्ट कामू की अस्तित्ववादी साहित्यिक रचनाएँ भी जागतिक अस्तित्ववादी चिन्तन एवं साहित्य की दिशादर्शक बनकर फैल गई इसमें कोई सन्देह नहीं। अस्तित्ववादी साहित्यकार के रूप में ज्यां पॉल

सार्त्र के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए डॉ. सत्यदेव मिश्र भी लिखते हैं कि, “वस्तुतः अस्तित्ववादी विचारकों में सर्वाधिक महत्त्व भी सार्त्र को दिया जाता है। साहित्य के क्षेत्र में इस दार्शनिक दृष्टिकोण को व्यापकत्व प्रदान करने वाले प्रथम दार्शनिक साहित्यकार सार्त्र ही हैं। कहना यह है कि साहित्य में अस्तित्ववादी चिन्तन का प्रारम्भ सार्त्र से ही होता है, जिसका अनुसरण बाद में बहुत से लेखकों ने किया। इन लेखकों ने कृति साहित्य की रचना भी की है तथा शुद्ध दार्शनिक स्तर पर अस्तित्ववाद का प्रवर्तन एवं संवर्धन भी। सार्त्र अस्तित्ववादी कृती साहित्यकार भी हैं तथा अस्तित्ववादी चिन्तक भी। उनके तीन उपन्यास, अनेक कहानियाँ, नाटक आदि अस्तित्ववादी साहित्य के अन्यतम नमूने हैं। यही नहीं इस सन्दर्भ में उनके समीक्षात्मक ग्रन्थ भी बहुत महत्त्व रखते हैं—विशेष रूप से ‘वॉट इज लिटरेचर’।...सार्त्र के बाद पाश्चात्य जगत् के प्रमुख अस्तित्ववादी लेखक तथा विचारक नोबुल पुरस्कार विजेता फ्रेंच साहित्यकार अलबर्ट कामू हैं। उपन्यास तथा नाटक के माध्यम से उन्होंने कृति साहित्य का क्षेत्र भी अपनाया है तथा दार्शनिक विचारधारा के क्षेत्र में अलग से कई ग्रन्थ भी लिखे हैं।”<sup>5</sup>

अस्तित्ववादी चिन्तन सम्पूर्णतः मानव केन्द्रित चिन्तन धारा है। वह सभी प्रकार की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक वर्जनाओं को उखाड़ फेंककर मात्र मानव अस्तित्व के सम्बन्ध में चिन्तन प्रस्तुत करता है। विभिन्न वर्जनाओं के तहत जीते हुए मनुष्य स्वयं अस्तित्वहीन बन जाता है। वह वर्जनाओं के बोझ के तहत छटपटाते अपनी स्वतन्त्रता सम्पूर्णतः खो देता है। अस्तित्ववाद मनुष्य के ऊपर किसी भी सत्ता को सर्वोपरि मानने के पक्ष में नहीं है। प्रथम महासमर की विभीषिका, तेज गति से फैलते औद्योगीकरण तथा उससे विकसित होती हुई मशीनी सभ्यता में मानव अस्तित्व सम्पूर्णतः संकट की स्थिति में आ गया। अतएव मानव अस्तित्व के सम्बन्ध में सोचना अनिवार्य बन गया। डॉ. विद्या चौहान के शब्दों में, “विनाश के कगार पर स्थित विश्व की आन्तरिक स्थिति द्रुत तकनीकी विकास, वैज्ञानिक संहारात्मक आग्नेयास्त्रों की होड़, उन्मादग्रस्त यान्त्रिकता की दौड़ और मनुष्य के अन्तरसम्बन्धों के बिखराव के कारण हिंसक तनाव को जन्म दे रही है।... अस्तित्ववाद मानव सत्ता को सर्वोपरि मानता है। उसका सम्पूर्ण ध्येय मानव के स्वभाव, चरित्र, जीवन-पद्धति, अनुभव और विचारों का विश्लेषण करना है। अस्तित्ववादी दर्शन ऐसे अन्तःस्तरीय मानव की परिकल्पना करता है, जो अतिशय वैयक्तिकता, एकाकीपन और विश्व विरतता से सम्पृक्त है।”<sup>6</sup>

सार्त्र के मतानुरूप कोई भी वैचारिक सत्ता, सत्त्व या गुण के पहले अस्तित्व होता है। अर्थात् पहले मनुष्य अस्तित्व में आता है और फिर जीवन की मान्यताएँ करता है। परन्तु हमेशा ही ऐसा होता आया है कि आगे चलकर यही होता आया है कि धार्मिक, नैतिक, सामाजिक मान्यताएँ सर्वोपरि और मानव अस्तित्व ओछा-कमजोर।

जिस मानव अस्तित्व के अभाव में दर्शन, चिन्तन का अपना कोई मूल्य, महत्त्व, अस्तित्व नहीं है, उसी अस्तित्व की अवहेलना निरन्तर की जा रही है। यही अस्तित्ववादियों की चिन्ता का विषय है। बच्चन सिंह के शब्दों में, “सारा जोर ‘मैं’ के मैंपन पर देने के कारण व्यक्ति एक जाति का प्रतिनिधि मात्र नहीं रह जाता, वह जीवन और जगत् में ‘यूनिक’ होकर प्रामाणिक ढंग से जीना चाहता है। जेस्पर्स का कहना है कि एक व्यक्ति के रिक्त स्थान की पूर्ति दूसरा व्यक्ति नहीं कर सकता। एक व्यक्ति का स्थान दूसरा व्यक्ति ले ही नहीं सकता। मतलब यह कि इस दर्शन की दिलचस्पी मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से है। इसमें ‘मैं’ वह है जो दूसरे नहीं हैं। दूसरे इसलिए हैं कि मैं है। ‘मैं’ के न होने पर दूसरे की सत्ता अकल्पनीय हो जाती है।”<sup>7</sup>

अस्तित्ववान होने का अर्थ प्रामाणिक जिन्दगी जीना है। अर्थात् वह जिन्दगी जो स्वनिर्माण तथा चुनाव की स्वतन्त्रता की जिन्दगी हो, जिसमें आत्मनिर्णय की स्वतन्त्रता हो जो बाह्य नियमों की वर्जनाओं से रहित हो। यदि वह है तो इस अर्थ में कि वह ‘यूनिक’ है, अपना निर्णायक और निर्माता है। यदि उसका निर्माता परिवेश है, दूसरी पद्धतियाँ हैं, तो वह वस्तु है। इसलिए अस्तित्ववान नहीं है। अस्तित्ववादियों के मतानुरूप मनुष्य के अस्तित्ववान होने की कसौटी ही बन्धन रहित स्वतन्त्र जिन्दगी जीना जिसमें निर्णय की पूरी स्वतन्त्रता हो। अगर वह किसी दूसरी सत्ताओं के नियन्त्रण में जीवन-यापन कर रहा है तो वह मनुष्य नहीं मात्र एक मशीन या मशीन का पुर्जा मात्र है, जो निर्धारित दायरे में किसी के आदेश से किसी के द्वारा नियन्त्रित निर्मित चलता है। सार्त्र के मतानुरूप मनुष्य स्वतन्त्र होकर ही प्रामाणिक जिन्दगी जी सकता है। अलबर्ट कामू विद्रोह को स्वतन्त्रता का पर्याय मानते हैं, ‘मैं विद्रोह करता हूँ, इसलिए अस्तित्ववान हूँ’। मनुष्य की मुक्ति कुछ वस्तुओं से ही मुक्त होने में नहीं है बल्कि कुछ वस्तुओं के लिए मुक्त होने में है। दूसरों के द्वारा मनुष्य को जानना वस्तु के रूप में जानना है। इससे अजनबियत की सृष्टि होती है। आधुनिक मनुष्य की इस अजनबियत का चित्रण आधुनिक कालीन कई हिन्दी साहित्यकारों ने अपने कविता, कहानी, उपन्यास, नाटकों के माध्यम से की है।

अस्तित्ववादी मानव अस्तित्व को अत्यधिक महत्त्व देते हैं, इसलिए वे वर्तमान तथा पूर्वमान्य सभी विचारों, तत्त्वों, सिद्धान्तों, नियमों आदि में आस्था नहीं रखते। वे प्रत्येक सिद्धान्त को उस व्यक्ति की वैयक्तिक धारणा के रूप में देखते हैं। कोई भी मनुष्य अपना भाग्य निर्माता खुद ही है तथा अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। इसलिए आत्मनिर्णय की स्थिति में अपने जीवन में दुःख, कष्ट, पीड़ा भी आ जाए तो भी वे अस्तित्ववादी हैं। वे मात्र सुखाकांक्षी नहीं अस्तित्वाकांक्षी हैं। अर्थात् आत्मनिर्णित जिन्दगी जीने के पक्षधर। पराधीनता में सुख-आनन्द की स्थितियाँ भी हैं तो वे अस्तित्वहीन हैं, और चयन की स्वतन्त्रता में दुःख, कष्ट, पीड़ा, यातना, यन्त्रणा भी आ जाये तो वह सही अस्तित्ववान जिन्दगी है। उनकी धारणा है कि सच्चे अर्थों में

मनुष्य अपने अस्तित्व का बोध दुःख एवं त्रास, यहाँ तक कि मृत्यु के एहसास के क्षणों में ही कर सकता है। “अस्तित्ववादी विचारक ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, समाजशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान आदि को भी महत्वहीन मानते हैं। उनके लिए वह सभी कुछ व्यर्थ है, जिससे अस्तित्व-बोध में सहायता नहीं मिलती। वे मात्र मानव-स्थिति (Human Condition) जानने के आग्रही हैं, क्योंकि उससे अस्तित्व-बोध में सहायता मिलती है। मानव-स्थिति के ज्ञान के लिए किसी भी पूर्व प्रचलित परम्परा—सामाजिक, वैज्ञानिक, आर्थिक एवं धार्मिक विश्वास अथवा किसी भी नियम-सिद्धान्त आदि के सहारे की आवश्यकता नहीं है। यदि आवश्यकता है तो मात्र कष्ट अथवा वेदनानुभूति की, क्योंकि मानव-स्थिति अनिवार्य रूप से वेदनामय है, दुःखद है।”<sup>8</sup>

अस्तित्ववादी दर्शन प्रस्तुत करने वाले चिन्तकों में कुछ चिन्तक धर्म तथा ईश्वर में विश्वास रखने वाले हैं तो कुछ विश्वास न रखने वाले अर्थात् कुछ आस्तिक हैं तो कुछ नास्तिक। औसतन देखा जाए तो नास्तिक चिन्तक इसमें अधिक हैं। नास्तिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले अस्तित्ववादी दार्शनिक नीत्शे ने तो यहाँ तक ऐलान किया कि ‘God is dead’ अर्थात् ईश्वर मर गया है। सार्त्र ईश्वरीय धारणा को इसीलिए मिटाना चाहते हैं कि ईश्वर एवं धर्म की आड़ में कोई भी मूल्य, मान्यता, आदेश मनुष्य की स्वच्छन्दता, मनुष्य के सहज विकास में बाधा न बने। वास्तव में अस्तित्ववादियों का बैर ईश्वर से नहीं है, ईश्वर की आड़ में जो तत्त्व निरंकुश बन मानव स्वच्छन्दता के बाधक बन रहे हैं उनसे है। सदियों से पाया गया है कि अपने मतों को समाज पर लादने तथा कुछ शक्ति, सत्ता-समूहों द्वारा धर्म एवं ईश्वर का उपयोग अपने फायदे, महत्त्व तथा अपनी निरंकुश सत्ता को अबाधित रखने के लिए एक शस्त्र की भाँति किया है। इन धारणाओं को उखाड़ फेंकने एवं मानव मुक्ति के लिए ही ईश्वर के मर जाने की घोषणा करते हैं। सार्त्र ने लिखा है कि, ‘अस्तित्ववादी इतना भी नास्तिक नहीं है कि उसे ईश्वर का विरोध करने के लिए व्यर्थ ही अपने समय और शक्ति का अवश्य अपव्यय करना पड़े, वरन् वह तो इस बात को प्रस्तुत करना चाहता है कि यदि ईश्वर इस संसार में है भी, तो उससे मनुष्य का न तो कुछ लेना-देना ही है और न कुछ बनना-बिगड़ना।’

हिन्दी साहित्य पर भी अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन का प्रभाव पाया जाता है। अलबर्ट कामू की ‘द मिथ ऑफ सिसिफस’ तथा ‘वेटिंग फॉर गोदो’ की ख्याति तथा उस पर होने वाली जागतिक आलोचना से हिन्दी साहित्यकार एवं समीक्षा जगत् भी चमत्कृत हुए बिना नहीं रहा। हिन्दी की विभिन्न विधाओं में इस चिन्तन की झलक पाई जाने लगी। परन्तु यह प्रभाव भारतीयता के परिप्रेक्ष्य में ही दिखता रहा। पाश्चात्य देशों में मानव अस्तित्व का चिन्तन तथा साहित्यिक लेखन महासमरोत्तर परिस्थिति तथा औद्योगीकरण के चलते है, परन्तु भारतीयता के साहित्य में उसकी प्रेरणा औद्योगीकरण तथा स्वतन्त्रता के पश्चात् उत्पन्न मोह भंग की परिस्थिति है। तेज गति



से बढ़ते औद्योगीकरण, मशीनीकरण तथा स्वातन्त्र्योत्तर राजनीति से उत्पन्न मोह भंग की परिस्थिति ने भारतीय व्यक्तियों के सम्मुख अस्तित्व के प्रश्न खड़े कर दिए। इसी से जीवन की निरर्थक, ऊब, घुटन, सन्त्रास, पीड़ा, अकेलेपन, अजनबीपन की उत्पन्न भावनाएँ साहित्य में झलकने लगीं। इन संवेदनाओं की तीव्रतम प्रस्तुति हिन्दी के असंगत नाटकों में अधिक तीव्रता से हुई है। भुवनेश्वर, विपिन कुमार अग्रवाल, मुद्राराक्षस, रमेश बक्षी, शान्ति मेहरोत्रा, वृजमोहन शाह, डॉ. चन्द्र आदि नाटककारों ने मानवीय स्थिति के नाटक लिखकर भारतीय परिप्रेक्ष्य में आम मनुष्य के अस्तित्व पर खड़े प्रश्न को रूपायित किया। धर्मवीर भारती, दुष्यन्त कुमार, भारत भूषण अग्रवाल, कुँवर नारायण, अज्ञेय आदि कवियों की कविताओं में अनास्था, अस्तित्व-बोध, मृत्युबोध, वैयक्तिक स्वच्छन्दता, पीड़ा, निराशा, उन्मुक्त भोग जैसी अस्तित्ववादी प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं।

सन्दर्भ :

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र : अधुनातन सन्दर्भ—डॉ. सत्यदेव मिश्र, पृ. 363
2. आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द—बच्चन सिंह, पृ. 19
3. अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य—डॉ. श्यामसुन्दर मिश्र, पृ. 171
4. पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन—निर्मला जैन, पृ. 13
5. पाश्चात्य काव्यशास्त्र : अधुनातन सन्दर्भ—डॉ. सत्यदेव मिश्र, पृ. 365
6. आधुनिक हिन्दी समीक्षा की प्रवृत्तियाँ—डॉ. विद्या चौहान, पृ. 158
7. हिन्दी आलोचना के बीज शब्द—बच्चन सिंह, पृ. 19
8. पाश्चात्य काव्यशास्त्र : अधुनातन सन्दर्भ—डॉ. सत्यदेव मिश्र, पृ. 367।

## रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा जिदु कृष्णमूर्ति के वैश्विक मानवीय चेतना में वसुधैव कुटुम्बकम् की अवधारणा

---

प्रभात कुमार\*

हीरे की कीमत देकर मैं काँच नहीं खरीदूँगा, मैं आजीवन मानवता पर देशभक्ति को  
हावी होने नहीं दूँगा।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

पृथ्वी बहुत सुन्दर है, मैं चाहती हूँ कि सभी उसे देखें।<sup>1</sup> इंडिया टुडे को दिए गए  
साक्षात्कार में कल्पना से पूछे गए दो सवालों के उत्तर का जिक्र पूरे मानव समुदाय के  
लिए प्रासंगिक होगा। जब कल्पना से यह पूछा गया कि क्या अंतरिक्ष से पृथ्वी नीली  
दिखती है, कल्पना ने उत्तर में कहा था, “पृथ्वी नीले रंग की नहीं है। पृथ्वी पर वस्तुतः  
सभी रंग दिखते हैं। उदाहरणस्वरूप, जब सहारा आता है, तो उसके बगल का समुद्र  
मरकत की तरह अत्यन्त सुन्दर तथा हरा दिखता है। सहारा स्वतः सुनहरा-भूरा दिखता  
है। फिर नील नदी आती है जो हरे कीले की तरह दिखती है और आप कह सकते हैं  
कि वह मरुभूमि की जीवन-रेखा है।” अपने को अंतरिक्ष मिशन के दौरान भारतीय  
महसूस करने की स्थिति के सवाल पर कल्पना ने बताया था, कि “अंतरिक्ष से देखने  
पर हमें लगता है कि हम सौर-मण्डल के वासी हैं, न कि पृथ्वी के किसी टुकड़े को।”<sup>2</sup>

यही बात हम अपने ऋषियों की वाणी में भी पाते हैं :

अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसां उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्  
महोपनिषद्, अध्याय-6, छन्द-72

---

\*शोध छात्र, शिक्षा विभाग, विश्व भारती विश्वविद्यालय, शान्तिनिकेतन, मोबाइल 09871843337  
ईमेल-prabht1381@gmail.com

सम्पूर्ण पृथ्वी को एक परिवार के रूप में देखने सम्बन्धी विचार वसुधैव-कुटुम्बकम् के मूल में अवस्थित है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर एवं जिदु कृष्णमूर्ति के लेखन में हम इस उदात्त विचार का विस्तार पाते हैं। जिन महामानवों ने देश की परिधि से परे जाकर सम्पूर्ण मानव जाति को अपने विचारों तथा कार्यों द्वारा एकीकृत करने का प्रयास किया। उन्हीं की श्रेणी में रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा जिदु कृष्णमूर्ति आते हैं जिनके विचार और कृत्य किसी भी समय के साथ अपनी समकालीनता तो बनाये रखते ही हैं, साथ-साथ जिनकी चेतना भी मानव जाति की चेतना का प्रतिनिधित्व करती है।

‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ उस शांति और समन्वय की बात करता है, जो सम्पूर्ण मानव जाति को सत्य से साक्षात्कार करवा सके। शांति, समन्वय और चिरंतन सत्य से साक्षात्कार का सन्देश देने वाले इस पदबन्ध को साकार रूप प्रदान करने में मानव जाति की भूमिका अति महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि मानव खुद के विवेक द्वारा संचालित होता है, जबकि पृथ्वी पर उपस्थित अन्य सभी चीजें ईश्वर द्वारा। मानव को छोड़कर प्रकृति में उपस्थित प्रत्येक वस्तु समन्वय और सहयोग का हिमायती है।

अठारह साल की उम्र में रवीन्द्रनाथ “*The A wakening of the Waterfall*”<sup>2</sup>, जैसी कविता लिखते हैं :

*The song of the morning-bird  
Has entered the darkness cavern  
I know not how it happened,  
But my life awoke from its sleep...  
My life I will pour out on this earth,  
A song of pity will I sing....  
How sweet the birdsong!  
How swift the light of the sun!*

रवीन्द्रनाथ इन पंक्तियों द्वारा यह बताने का प्रयास करते हैं कि व्यक्तिगत चेतना का सार्वभौम चेतना में रूपांतरण होने के बाद ही उस ‘आदि सत्य’ से उनका साक्षात्कार हुआ, जो सम्पूर्ण मानव जाति का सत्य था। पारवारिक वंदिशों में घुटते बचपन के कारण दूरागत के प्रति उभरती उत्कंठा ने जहाँ बाहरी विस्तार की पृष्ठभूमि तैयार की, वहीं पिता देवेन्द्रनाथ के साथ हिमालय की यात्रा ने रवीन्द्रनाथ को प्रशांत आन्तरिक विस्तार प्रदान किया और इस तरह बाद में चलकर दोनों स्तरों पर अलग-अलग होने वाले विस्तार के एका होने के साथ ही गुरुदेव के विश्वचेता मानव बनने की शुरुआत हुई। अस्सी साल के अपने सतरंगे जीवन में पाँच महादेशों में अवस्थित अलग-अलग संस्कृतियों, जीवन दर्शनों, शैक्षणिक गतिविधियों से रचे बसे 34 देशों तक पहुँचने वाले गुरुदेव की लेखनी में (विभिन्न देशों में रहने वाले मानवीय चेतना के प्रतिनिधियों जैसे विकटोरिया ओकेम्पोय अर्जेन्टीना), मारिया मोनटेसरी

(इटली), अल्बर्ट आइंस्टाइन (जर्मनी), हेलेन केलर (अमेरिका), विल ड्यूरेन्ट (अमेरिका), सिनक्लेयर लेविस (अमेरिका), विलियम रोदनस्टेन (इंग्लैंड), डब्लू.बी. येट्स (इंग्लैंड), लियांग क्वीचाओ (चीन), नोगुची योनीजीरो (जापान), हर्मन केय्सेलिंग (जर्मनी), लिओनार्ड एलमेरिस्ट (ब्रिटिश), तान यात शान (चीन), सी.फ.एण्ड्रूज, डब्लू.डब्लू.पी. (रसन, सिलवन लेवी आदि से विचारों के आदान-प्रदान में और शान्तिनिकेतन को विभिन्न सांस्कृतिक तथा वैचारिक धाराओं के सम्मिलन स्थल के रूप में विकसित करने जैसे कार्यों में उसी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की मूल भावना को हम पाते हैं, जो उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्ध को एकाकार रूप देते हुए उस नीड़ के निर्माण के लिए आवश्यक तत्त्व को उपलब्ध कराता है, जो मानव जाति के मध्य समन्वय और सहकार पर आधारित है।

*"... the individual finds his meaning in a fundamental reality comprehending all individuals-the reality which is the moral and spiritual basis of the realm of human values. This belongs to our religion.....religion is the liberation of our individual personality in the universal person who is the human all the same ..."*<sup>3</sup>, रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि व्यक्तिगत स्व से मुक्ति के बाद ही उस विराट का हिस्सा बना जा सकता है, जिसमें सबका अक्स दिखता है, तभी व्यक्ति उस सार्वभौम मानव जाति का प्रतिनिधित्व कर सकता है, जो पृथ्वी पर सर्वत्र उपस्थित हैं। गुरुदेव अपने विचारों द्वारा यह बताते हैं कि जबतक व्यक्ति आंतरिक स्तर पर साधु-स्वरूप नहीं हो जाता, तबतक उस विश्व चेतना के साथ एकमेव नहीं हो सकता, जो सार्वभौम है। इस तरह की अभिन्नता ही केवल 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अंतर्निहित भाव को मानव जाति के जीवन दर्शन से जोड़ सकती है।... *"...it is important that the individual should be true in his goodness.... in goodness we identify ourselves with the universal humanity---. Goodness is the freedom of our self in the world of our man, as is love. We have to be true within, not for worldly duties but for that spiritual fulfilment, which is in harmony with the perfect, in union with the Eternal...."*<sup>4</sup>, जिह्वा कृष्णमूर्ति को बहुतों ने बुद्ध समान विवेक वाला माना तो कुछ के द्वारा बीसवीं शताब्दी का सोक्रेटस कहा गया और कुछ ने उन्हें एक घटना माना, एक ऐसी घटना जो हजारों सालों में एक बार होती है। "Krishnamurti was an extraordinary person, with a quality of consciousness which can't be explained in any rational terms, and he himself was not able to explain how he came to the consciousness which was free of all ego constraints."<sup>5</sup> रवीन्द्रनाथ की तरह ही कृष्णमूर्ति भी साठ सालों तक दोनों गोलार्धों में अवस्थित विभिन्न प्रदेशों की यात्रा करते रहे। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों, धाराओं से जुड़े बुद्धिजीवियों जैसे जार्ज बर्नाड शॉ (इंग्लैंड), अल्डुस हक्सले (अमेरिका), दलाई लामा,

लिओपोल्ड स्टोकोवस्की, डेविड भोम (भौतिकशास्त्री), पाब्लो कसाल्स (Spanish cellist), रूफर्ट सेलड्रेक (जीवविज्ञानी), टेरेन्स स्टाम्प (अभिनेता), जोन्स साल्क (महान चिकित्साशास्त्री), अंटोनी बौर्देल्ले (French sculptor), मौरिस विलकिन्स (Nobel Laureates, Medicine), जवाहर लाल नेहरू, इंदिरा गाँधी, फ्रेडरिक गोहे (व्यवसायी), ब्रूस ली, प्रोफेसर रिनपोचे, वैन मौरिसन, बेंजामिन विननिगर (मनोविज्ञानी) से मिलकर संवाद द्वारा व्यक्तिगत मन की जगह मानव मन को समझने तथा समझाने का प्रयास करते रहे। उनके अनुसार एक व्यक्ति मनोवैज्ञानिक रूप से समस्त मानवता का प्रतिरूप ही है।

*“.....A human being psychologically is the whole of mankind. He is essentially the whole psyche of mankind...A s the representative of the whole human race, your response is whole not partial. One has to learn the art of this responsibility”<sup>6</sup>..... “ Responsibility comes from to respond, to respond not partially but wholly..... If one is born in India, Europe,A merica, or wherever, one’s response will be according to religious superstition or Nationalism, or Scientific theories . These condition one’s response, and they are always limited, finite; and so there is always contradiction, conflict and the arising of confusion..”<sup>7</sup>....*

अक्सर उत्तरदायित्व के निर्वहन के समय हम आंशिक के प्रति तो अपनी जिम्मेदारी समझते हैं, परन्तु सीमित सोच के प्रतिफलन स्वरूप हम सम्पूर्ण के प्रति गैर-जिम्मेदाराना व्यवहार करते हैं। मानव जाति के प्रति हम अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझते हैं। राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक श्रेष्ठता तथा तकनीकी श्रेष्ठता के फलस्वरूप ही यह गैर जिम्मेदाराना व्यवहार सह उत्पाद के रूप में अनवरत जमा होता रहता है और यही विभाजन तथा अव्यवस्था को बढ़ावा देते हुए व्यक्ति के अंदर विखंडनकारी तत्त्व को प्रश्रय देता है। कृष्णमूर्ति कहते हैं कि जब आप मनोवैज्ञानिक तौर पर स्वयं में दुनिया को प्रतिबिंबित पाते हैं तो उसी समय उत्तरदायित्वों का रूपांतरण उस अगाध प्रेम में हो जाता है जो हमारे व्यवहार, सोच के तरीके को सही दिशा में निर्देशित करते हुए सही क्रिया (राइट एक्शन) करने को हमें उद्धृत करता है। इस प्रकार हम पृथ्वी, प्रकृति और मानव के मध्य उस गहरे अंतरसंबंध को समझ पाते हैं, जो ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ जैसे विचार, जो समय सांस्कृतिक भौगोलिक सीमा से परे अपनी प्रासंगिकता को मजबूती के साथ रखता रहा है, का कृष्णमूर्ति के विचारों से साम्यता पाते हैं।

कृष्णमूर्ति के विचारों का विश्लेषण हमें आगाह करते हुए उन सूक्ष्म कारणों को जानने में मदद करता है, जिसके कारण ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की अवधारणा, जो ढाई हजार साल से भी पुरानी है, को अबतक हम पूर्णरूपेण चरितार्थ नहीं कर पाये हैं।

*“---when you look around you, not much in the human world as in nature, in the heavens, you see an extraordinary sense of order, balance and*

harmony. Every tree and flower's its own order, its own beauty... But man is shaped by his selfishness, and his so called spontaneity is within the field of selfinterest.....”<sup>8</sup>, पिछले पाँच हजार सालों का इतिहास बताता है कि व्यक्ति व्यक्तिगत, सामूहिक और राष्ट्रीय रूप में खुद को विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न स्तरों पर श्रेष्ठ साबित करने तथा सुरक्षित करने के संदर्भ में कभी न खत्म होने वाले नीरस संघर्ष का हिस्सा रहा है। सुरक्षा की खोज में भटकता मनुष्य किसी राष्ट्रीयता, विचारधारा, धर्म या विश्वास के साथ खुद को जोड़ लेता है। यहीं से हममें विभाजनकारी तत्त्व का समावेश होना प्रारंभ होता है। हम सीमित दायरे में प्रेम और शांति की खोज करते हैं। कृष्णमूर्ति के विचारों के परिप्रेक्ष्य में देखें तो पाते हैं कि ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की अवधारणा कभी भी सफलतापूर्वक लागू नहीं हो पायी और भविष्य में भी लागू नहीं हो पाने की आशंका है, क्योंकि बँटा हुआ आदम जात मूलभूत रूप में परिवर्तित होने को तैयार नहीं है।

“---In a world where..... each human being is more than ever concerned with his own survival. ....ideological differences, ideals, and faiths are the roots of a division, that is preventing human survival... ”<sup>9</sup>  
 “... Man is no longer individual, separate. What affects the few affects all mankind.....We can't possibly survive if we are concerned only with our own survival. All human beings the world over are interrelated today. What happens in one country affects the others...a human being is inseparable from the whole of the mankind.”<sup>10</sup> जीवन में आगत की अनिश्चितता से भयभीत व्यक्ति सुरक्षा चाहता है। फिर हम किसी धार्मिक विचारधारा या समुदाय या देश से जुड़कर सुरक्षित होने का प्रयास करते हैं। ये धार्मिक विचारधाराएँ, समुदाय या फिर देश, सभी कुछ लोगों द्वारा ही संचालित होते हैं और ये अनिश्चितता से मुक्ति के लिए आधिकारिक तौर पर अपनी श्रेष्ठता साबित करने का प्रयास करते हैं। यहीं से हम सीमित सोच के दायरे में जीवन जीना प्रारंभ करते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि हमारे कृत्य, जो सिर्फ खुद को अस्तित्वमान बनाये रखने में संलग्न हैं, सम्पूर्ण मानव जाति को प्रभावित करती है और विशेष रूप से तब, जबकि वैश्वीकरण के समय में हम सब जी रहे हों। समष्टि के अस्तित्व में ही व्यक्ति का अस्तित्व भी छुपा है।

“There is no such thing as living in isolation - no country, no people, no individual, can live in isolation; yet, because you are seeking power in so many different ways, you breed isolation. Each one is seeking power and in seeking power he will establish a society which is based on power, military, industrial, economic, and so on - which again is obvious. ”...So the very nature of power is isolation.... A man who is affectionate, who

*is kindly, has no sense of power, and therefore such a man is not bound to any nationality, to any flag.....*”<sup>11</sup>, कृष्णमूर्ति कहते हैं कि सत्ता की, पद की, दूसरे पर अधिकार जताने की आकांक्षा के रहते हम ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ को वास्तविकता में परिणत नहीं कर सकते। एक स्नेहपूर्ण, सौम्य, सत्ता तथा राष्ट्रीयता के बोध से मुक्त मन ही केवल मानव मन बन सकता है और तभी पृथ्वी को परिवार के रूप में देख सकते हैं।

कृष्णमूर्ति के नाम पर स्थापित किये गये तीन संस्थानों अर्थात् कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ऑफ अमेरिका और कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ट्रस्ट यूके द्वारा चलाये जा रहे नौ विद्यालयों में, जिनमें कि सात भारत में और एक-एक अमेरिका तथा यूके में हैं, शिक्षा के द्वारा बच्चों का परिचय उन बातों से कराने की कोशिश हो रही है, जो अंततोगत्वा ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ जैसे विचार की प्रासंगिकता को समझने तथा लागू करने के लिए अनिवार्य है। कृष्णमूर्ति ने ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की अवधारणा के फलीभूत होने में परंपरागत शिक्षा व्यवस्था की खामियों को उजागर करते हुए बताया कि कैसे चली आ रही शिक्षा व्यवस्था हमें एक अच्छा व्यक्ति, जिसे अपने उत्तरदायित्वों को बोध हो, बनने से रोकती है। “Krishnamurti saw traditional education as a servant of national, civic or economic interests, designed to produce efficient workers and patriotic citizens .....the kind of education he favoured was designed “to help people understand the ways of society and not be caught in its net” .<sup>12</sup> समाज की बुनावट तथा कार्य करने के तरीके की समझ एक जागृत बुद्धि वाला मन ही कर सकता है और कृष्णमूर्ति उस शिक्षा योजना के पक्षधर थे जो एक जागृत बुद्धि वाले मन के विकास में सहयोग कर सके। “....The purpose, aim and drive of these schools is to create the right climate so that the child may develop fully as a human being...”<sup>13</sup> कृष्णमूर्ति ने बच्चों में पूरी दुनिया को एक इकाई के रूप में देखने तथा समझने वाली दृष्टि के विकास में योगदान करने वाली शिक्षण पद्धति को सही माना। जीवन को समग्रता में देखने वाले कृष्णमूर्ति के विचारों तथा कार्यों का विश्लेषण एक ऐसे उन्मुक्त मन की छवि प्रस्तुत करता है, जो शुरुआत से ही खुद में सम्पूर्ण मानव जाति को महसूस करते थे और जो भी कार्य किया मानव जाति के लिए किया। 1922 में बर्कले विश्वविद्यालय की यात्रा ने कृष्णमूर्ति को गहरे प्रभावित किया था। इसके बाद ही एक अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय को खोलने की बात उनके मन में आई थी, परन्तु जो वास्तविकता में परिणत नहीं हो पाया। इस प्रकार विश्वबोध वाला तत्त्व हम कृष्णमूर्ति के जीवन में प्रारंभ से ही पाते हैं।<sup>14</sup> कृष्णमूर्ति के बाल्यकाल की गतिविधियों ने उनके महामानव बनने का रास्ता तय कर दिया था। उनकी माँ संजीवमा, ज्योतिषी कुमारा श्रोथुलु, चार्ल्स लेडबेटर और एनी बेसंट द्वारा कृष्णमूर्ति के बारे में की गयी भविष्यवाणी बाद में चलकर अक्षरशः सही साबित हुई। “---he was extremely observant as he

*was to be all his life... He also had a most generous nature, another characteristic which he retained throughout his life. He would often return from school without pencil, slate or books, having given them to some poorer child....*"<sup>15</sup>, कृष्णमूर्ति के विचार उनके आंतरिक भाव में बसे निखालिस प्रेम का ही सुंदर उन्मेष है। कृष्णमूर्ति के विचारों की मीमांसा करने पर हम पाते हैं कि उनके दृष्टि परिधि के अंदर सम्पूर्ण मानव जाति को खुद में महसूस करने वाला भाव अन्तर्निहित है।

Humayun Kabir once states that "....*Tagore was always a seeker for the Universal Man ...*"<sup>16</sup> गुरुदेव ने धार्मिक आधार पर खंडित करने वाली उन चीजों को, जो मानव-मानव के बीच मतभेद पैदा करता है, अपने आश्रम स्वरूप शिक्षा व्यवस्था से हमेशा दूर ही रखा। रवींद्रनाथ की रचनाओं जैसे 'अतिथि' कहानी, लेख 'सभ्यता का संकट' या 'रिलीजन ऑफ मैन' इत्यादि में हम अनगिनत बार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की गूँज को अंतरपाठ में रचा-बसा पाते हैं। रवींद्रनाथ को यह आभास था कि मनुष्य अपनी स्थिति में संकीर्ण है और जब तक प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ अपने अंतरवैयक्तिक सम्बन्ध को विस्तार नहीं देगा अर्थात् उस निःसंग प्रेम का साक्षी नहीं होगा तब तक 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को यथार्थ रूप देना संभव नहीं। रवींद्रनाथ का मानस सिर्फ मानव को विजयी और सुखी देखना चाहता है। " 'पुनश्च' काव्य संकलन की 'शिशुतीर्थ' कविता में कवि रवीन्द्रनाथ आस्था व्यक्त करते हैं—“जय हो मानव की, उस नवजात की, उस चिरजीवित की।”<sup>17</sup> रवींद्रनाथ के नाटक 'प्रायश्चित्' में धनंजय बाउल साधु के पात्र में विश्व प्रेम का सन्देश देता है। जिस प्रेम तत्त्व की उपस्थिति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा के यथार्थीकरण के लिए पहली शर्त है उस प्रेम को हम गुरुदेव की कविताओं में पाते हैं। “तुम्हारे प्रेम से विश्व प्रभामय हो। तुम्हें देखकर, फिर मुग्ध होकर मानव मानव से प्रेम करे :

“तोमार सौंदर्य होक मानव सुंदर  
प्रेमे तब विश्व होक आलो  
तोमारे हेरिया जेन मुगुध अंतर  
मानुषे मानुष बासे भालो”<sup>18</sup>

उपनिषद से गहरे प्रभावित गुरुदेव का जीवन 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा को आत्मसात किये बिना फिर कैसे रहता। ---*The international consciousness which Tagore helped to create ... Santiniketan ..... he attempted to build a community which would recognize no geographical boundaries....* “They will know only one country and that country will comprise the whole world. They will know only one race and that race will cover the entire human race.”<sup>19</sup>, विश्वजनीन मानस वाले रवींद्रनाथ तथा कृष्णमूर्ति द्वारा



शिक्षण संस्थानों की स्थापना के पीछे जो मूल भाव थे उसमें भी हम साम्यता पाते हैं। रवींद्रनाथ ने जहाँ प्रकृति, स्वतंत्रता तथा प्रेम को शांतिनिकेतन की स्थापना के मूल में समाहित करते हुए सम्पूर्ण मानवता का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था का निर्माण किया, वहीं कृष्णमूर्ति ने भी अपने विद्यालयों को मानव मानव के बीच विभेद पैदा करने वाले कारकों जैसे धर्म, लिंग, रूढ़िगत परम्पराएँ, राष्ट्रीयता, नस्ल आदि से परे रखा। “...Krishnamurti’s English school in Hampshire, the smallest, has only sixty pupils, but of twenty- four nationalities and equal number of boys and girls ....”, ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ को विचार से उतारकर धरातल प्रदान करने वाली शिक्षा व्यवस्था को दोनों महापुरुषों ने अमल में लाने का प्रयास किया। रवींद्रनाथ कहते हैं कि बच्चों के यथोचित मानसिक स्वास्थ्य और विकास के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें अपने पाठों के लिये स्कूल न भेजकर एक ऐसी दुनिया में भेजा जाए जिसकी आधारभूमि प्रेम हो। यह एक ऐसा आरम्भ हो ...जहाँ बच्चों को संकुचित देशप्रेम घुट्टी में न पिलाया जाता हो, सम्पूर्ण विश्व को विधाता का साम्राज्य तथा विश्व-बंधुत्व को आदर्श मानना सिखाया जाता हो तथा जहाँ सूर्योदय-सूर्यास्त, सितारों का मूक सौंदर्य के बीच एक प्यारी-सी अनुभूति के मध्य शिष्य और शिक्षक एक साथ ही शाश्वत जीवन का आनंद ले सकें। 1902 में रवींद्रनाथ द्वारा कुंजलाल घोष को लिखे गये बीस पृष्ठों के पत्र को ब्रह्मचर्याश्रम का पहला संविधान माना जाता है। इस संविधान में हम उन तत्त्वों को आसानी से पा सकते हैं, जो ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की अवधारणा को फलीभूत करने के लिए आवश्यक है। “*In paragraph eleven the universal aspects of Gayatri Mantra are emphasized in its presentation as a prayer which transcends race and nationality : “At that time I am to think that I am standing in the middle of the entire universe: I am now no mere resident of some particular country .”*”<sup>20</sup>

#### संदर्भ सूची :

1. ‘I’d love a moonwalk’, Raj Chengappa, January 26, 1998  
<http://indiatoday.intoday.in/story/i-really-feel-responsible-for-the-earth-now-says-kalpana-chawla/1/263143.html>
2. Ghose, Sisirkumar (1990). *Rabindranath Tagore*. New Delhi-Sahitya Akademi, p-3
3. Tagore, Rabindranath (1931). *The Religion of Man*. New York-The Macmillan, p-191
4. Tagore, Rabindranath (1931). *The Religion of Man*. New York-The Macmillan, p-193

5. Krishna, Padmanabhan (2015). *A Jewel on Silver Platter-Remembering Jiddu Krishnamurti*. Varanasi Pilgrims Publishing. p-256
6. Krishnamurti, Jiddu (2006). Responsibility. In Ray McCoy (Ed.) *The Whole Movement of Life is Learning*. England-Krishnamurti Foundation Trust., p-19
7. Krishnamurti, Jiddu (2006). Responsibility. In Ray McCoy (Ed.) *The Whole Movement of Life is Learning*. England-Krishnamurti Foundation Trust., p-18
8. Krishnamurti, Jiddu (2006). Responsibility. In Ray McCoy (Ed.) *The Whole Movement of Life is Learning*. England-Krishnamurti Foundation Trust., p-246
9. Krishnamurti, Jiddu (2006). Responsibility. In Ray McCoy (Ed.) *The Whole Movement of Life is Learning*. England-Krishnamurti Foundation Trust., p-109
10. Krishnamurti, Jiddu (2006). Responsibility. In Ray McCoy (Ed.) *The Whole Movement of Life is Learning*. England-Krishnamurti Foundation Trust., p-110
11. Krishnamurti, Jiddu (1954). *Bilingual edition of The First and Last Freedom*. Varanasi- Krishnamurti Foundation India, p-200
12. Rishi Valley Education Centre (2007). *Rishi Valley School-The First Forty Years*. p-10
13. Rishi Valley Education Centre (2007). *Rishi Valley School-The First Forty Years*. p-10
14. Krishnamurti, Jiddu (2002). *Why are you being educated ?*. England-Krishnamurti Foundation Trust Ltd, p-vii
15. Lutyens, Mary (1990) *The Life and Death of KRISHNAMURTI*. London-John Murray (Publishers) Ltd, p-4
16. Kabir, Humayun (1961). Tagore's Universalism. In Sunilchandra Sarkar (Ed.) *Rabindranath Tagore Birth Centenary Celebrations*, vol-I, Education, p-2
17. लाहिरी, स. (दिसम्बर, 2012) रवीन्द्रनाथ ठाकुर की आलोचना दृष्टि का अंतर्लोक-विश्वभारती पत्रिका-55 (1-2), 106.
18. मिश्र, बहादुर (दिसम्बर, 2012)—निराला साहित्य मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर—विश्वभारती पत्रिका-55 (1-2), 76.
19. Cenknor, W. (1976). *The Hindu Personality in Education*. New Delhi: Manohar. pp-21-23
20. O'Connell, Kathleen M. (2012) Rabindranath Tagore : The Poet as Educator. Kolkata-Visva Bharati Publishing Department, pp-128-131

## पाठकीय प्रतिक्रिया

---

आपके 'चिन्तन-सृजन' का प्रत्येक अंक अपने नाम को अर्थवान बनाता है। आपका यह रचनात्मक कार्य राष्ट्रधर्म के सम्पादन जैसा है। साधुवाद।

- डॉ. शोभाकान्त झा, सम्पादक: लोक मंगल (साहित्य) उपास्महे  
लोकमङ्गलम्, कुशालपुर, रायपुर-492001 (छत्तीसगढ़)।

गत अंक जन-मार्च 15 की प्रतिक्रिया भेजी थी (30.4)। संभव है न मिली हो। सभी सत्ताएँ भ्रष्टाचार करती हैं। निरंकुश सत्ता निरंकुशता से भ्रष्टाचार करती है—All power corrupts and absolute power corrupts absolutely (Dr. Acton) इसके अनुसार मोदी का कार्यजन तांत्रिक, लोकसंग्रही है। जबकि उनका शासनकाल निरंकुश है। ऐसा बहुमत वर्षों बाद मिला है। उनके सकारात्मक, विकासात्मक क्रिया कलाप पर आपकी टिप्पणी न्यायसंगत है। अन्य रचनाओं पर कभी बाद में।

- प्रो. मृत्यंजय उपाध्याय, वृन्दावन, राजेन्द्र पथ, धनबाद-826001  
(झारखंड), मो. 09334088307.

## प्राप्ति-स्वीकार

---

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

### पुस्तकें:

समूचे के कवि तुलसीदास, संपादक: डॉ. शोभाकान्त झा, प्रकाशक : सुमित्रा प्रकाशन, कुशालपुर, रायपुर-492001(छ.ग.); प्रथम संस्करण: 2002 ई.; पृष्ठ: 110; मूल्य: 125.00 रुपये।

लोक मंगल के कवि तुलसीदास, संपादक: डॉ. शोभाकान्त झा, प्रकाशक: सुमित्रा प्रकाशन, कुशालपुर, रायपुर-492001(छ.ग.); प्रथम संस्करण: 2006 ई.; पृष्ठ: 112; मूल्य: 100.00 रुपये।

संवाद और हस्तक्षेप, खंड-21 संपादक: डॉ. सुनीता खत्री, प्रकाशक: म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति एवं पं रविशंकर शुक्ल हिन्दी भवन न्यास, हिन्दी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल-462002; प्रकाशन वर्ष: 2016 ई.; पृष्ठ: 242; मूल्य: 200.00 रुपये।

संकल्प की प्रतीक्षा में..., संपादक: कैलाशचन्द्र पंत, प्रकाशक: साहित्य संगम, नया 100, लूकरगंज, इलाहाबाद-211001; प्रथम संस्करण: 2015 ई.; पृष्ठ: 224; मूल्य: 300.00 रुपये।

हिन्दू जीवन पद्धति की विश्वदृष्टि, संपादक: रमेश शर्मा, प्रकाशक: भाई उद्धवदास मेहता स्मृति न्यास, भोपाल; प्रथम संस्करण: 2012 ई.; पृष्ठ: 140.

### पत्रिकाएँ:

सृजन की आँच, शोध-त्रैमासिकी, वर्ष-5, अंक 13, जनवरी-मार्च, 2016; संपादक: डॉ. माया सिंह, प्रकाशक, मुद्रक एवं स्वामित्व: डॉ. माया सिंह, 'प्रकृति प्रवाह', 21-22, शुभालय विलास, बरखेड़ा पठानी, भोपाल-462021 (म.प्र.); पृष्ठ: 64; मूल्य: वार्षिक 200/- रुपये।

भास्कर भारत भारतीय भाषा, संस्कृति एवं विचारों की अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका, वर्ष-4, अंक 9, जुलाई 2016; संपादक: डॉ. राधेश्याम शुक्ल; स्वामी, संपादक, मुद्रक एवं प्रकाशक: राधेश्याम शुक्ल, 5-4-790/1, दूसरा माला, 'जय श्रीराम कक्ष', आर्शीवांद कॉम्प्लेक्स, आबिडस, हैदराबाद-500001(आंध्र प्रदेश); पृष्ठ: 68; मूल्य: 50/- रुपये।

**केन्द्रीय हिंदी संस्थान**  
**मानव संसंधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार**  
संपर्क: हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन: 0562-2530684,  
वेबसाइट: [www.indisansthan.org](http://www.indisansthan.org), [www.khsindia.org](http://www.khsindia.org)

**संक्षिप्त परिचय**

केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसंधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र: दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

**संस्था के प्रमुख उद्देश्य**

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन।  
■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन।  
■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण।  
■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थानों के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हो और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थाओं को संबद्धता प्रदान करना।  
■ समय-समय पर विषयानुसार अध्येतावृत्ति (फेलोशिप) छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

**संस्थान के कार्य**

- शिक्षणपरक कार्यक्रम: (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम, (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)
- अनुसंधानपरक कार्यक्रम: (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v)

हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरा द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

● शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास: (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकाशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन: हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि के संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका - 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय: भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय: हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ: ■ भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केन्द्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत। ■ अफगानिस्तान के नानहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ। ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एम.ए., यू.के., मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध जारी। ■ हिंदी के बहुआयामी संबर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरेशन परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोष परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना, लघु हिंदी विश्वकोष परियोजना पर कार्य।

- डॉ. कमल किशोर गोयनका  
उपाध्यक्ष, केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल  
ई-मेल: kkgoyanka@gmail.com

- प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय  
निदेशक  
ई-मेल: nkpandey65@gmail.com  
directorofkhs@yahoo.co.in

सेवा में,

आस्था भारती  
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट,  
मयूर विहार फेस-1 विस्तार,  
दिल्ली-110 096.

महोदय,

मैं त्रैमासिक पत्रिका चिन्तन-सृजन का ग्राहक बनना चाहता हूँ। इस हेतु.....  
.....रुपये चेक/बैंक ड्राफ्ट सलग्न है। यह शुल्क एक वर्ष/तीन वर्ष के लिए है  
(✓टिक करें)।

नाम : .....

.....

पता (शहर, पिन कोड अवश्य लिखें) : .....

.....

फोन न. : .....

ई-मेल : .....

भवदीय

(हस्ताक्षर)

नोट: 1. चेक/बैंक ड्राफ्ट “आस्था भारती” के नाम से होना चाहिए तथा नई दिल्ली/दिल्ली  
में देय होना चाहिए।

पत्रिका चेक के भुगतान के बाद साधारण डाक से भेजी जाएगी।

2. चिन्तन-सृजन की शुल्क निम्न है।

वार्षिक मूल्य:

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए	एक प्रति का मूल्य	व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए		संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए

तीन वर्ष:

व्यक्तियों के लिए	180.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	400.00 रुपए